स्वर्गीय सेठ किसनदास पूनमचन्द कापडिया (सूरत)

स्मारक ग्रंथमाला नं० ४।

हमने अपने पूज्य पिताजीके अंतसमय वीर सं० २४६० विक्रम सं० १९९० में २०००) इसलिये निकाले थे कि इस रकमको स्थायी रखकर उसकी आयमेंसे पूज्य पिताजीके स्मरणार्थ एक स्थायी ग्रन्थमाला निकालकर उसका सुलभ प्रचार किया जावे। इसप्रकार इस ग्रन्थमालाका प्रारंभ वीर सं० २४६२ में किया गया और इसकी ओरसे अवतक तीन निम्न ग्रन्थ प्रगट होकर 'दिगम्बर जैन' के ग्राहकोंको भेट दिये जाचुके हैं—

१—पतितोद्धारक जैन धर्म	१।)
२—संक्षिप्त जैन इतिहास तृ० भाग, द्वितीय खंड	१)
३—पंचस्तोत्र संग्रह सटीक	॥=)

और अब यह चौथा ग्रन्थ—भगवान कुन्दकुन्दाचार्य चरित्र प्रगट किया जाता है और यह भी 'दिगम्बर जैन' मासिक पत्रके ३५ वें वर्षके ग्राहकोंको भेंट दिया जाता है।

ऐसी ही अनेक ग्रन्थमालाऐं दि० जैन समाजमें स्थापित हों तो लुप्तप्रायः तथा नवीन दि० जैन साहित्यका बहुत कुछ उद्धार व विनामूल्य या अल्प मूल्यमें प्रचार होसकेगा।

मूलचन्द किसनदास कापड़िया, प्रकाशक।

दो शब्द ।

जैन पुराणोंके उल्लेखानुसार मसिकलाका आविष्कार आदि तीर्थंकर श्री ऋषभदेवजी द्वारा कर्मभूमिकी आदिमें ही हो चुका था, जिसका थोड़ा बहुत व्यवहृत होना भी स्वाभाविक है, परन्तु प्राचीन आख्यायिकाओंको विचारनेसे ज्ञान पड़ता है कि महाभारतसे पूर्व जिसे लगभग ५ हजार वर्ष हुये, चतुर्थकालमें सत्संयमी, उग्र तपस्वी, और तत्वज्ञानियोंका बाहुल्य होनेसे जनताको धर्मोपदेश सुनने और तदनुकूल चारित्र पालन करनेकी प्रति समय यथेच्छित सुविधा प्राप्त थी। इसलिये तात्विक सिद्धान्त और चारित्रात्मक आगमको पुस्तकारूढ़ करनेकी उस समय कोई आवश्यक्ता प्रतीत नहीं हुई। अतः समस्त सैद्धान्तिक ज्ञान विद्वानों एवं धर्मरसिकोंके कंठाग्र ही रहा।

जब इस महा समरमें भारतके बलशाली सुभटों और शस्त्र-विज्ञानियोंका प्रायः अन्त हो गया तो देशकी जगद्विख्यात संस्कृति, सभ्यता, उदारता, वीरता तथा धार्मिकताकी भी क्षति होगई। इन मानवीय सद्गुणोंके अभावमें देशवासियोंकी जो स्थिति होना चाहिये थी वही हुई। विद्वानोंमें स्वार्थपरता, तपस्वियोंमें शिथिलता और साधारण जनतामें विलासताका संस्कार उत्पन्न होकर प्रतिदिन बढ़ने लगा, वाममार्गकी स्थापना हो गई, अहिंसाप्रेमी और सदाचारी देशवासी आमिषभोजी, सुरापानी तथा व्यभिचारी होगये, और कुलगुरुओंने भी इन पापात्मक क्रियाओं पर धर्मकी छाप लगा दी।

महाभारतके लगभग २ हजार वर्ष वाद २३ वे तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ अवतरित हुये। उनके सदुपदेशसे सैद्धान्तिक विस्मृतियों तथा आचारात्मक शिथिलताओंका बहुत कुछ संशोधन हुआ, परन्तु उनसे पूर्व वैदिक आचारांगमें इतनी पापात्मक विषमता और मिथ्यात्वात्मक उच्छृंखलता आ गई थी कि वह भगवानके आदर्शीय तप त्याग तथा सर्व हितकारी धर्मोपदेशसे भी तत्कालीन साम्प्रदायिक भेदके कारण पूर्णतः निर्मूल न हो सकी, वल्कि भगवानके निर्वाणलाभके बाद उपस्थित वाम मार्गका और भी अधिक वेगसे उत्कर्षण हुआ।

भगवान पार्श्वनाथके मुक्तिलाभसे २५० वर्ष पीछे श्री महावीर-स्वामी २४ वें तथा अन्तिम तीर्थंकरका जन्म हुआ, जिन्होंने युवा-वस्थाको प्राप्त होकर जब देशवासियोंकी हिंसामय कुकृतियों, व्यभिचा-रात्मक लीलाओं और दुर्व्यसनपूर्ण प्रवृत्तियोंको देखा तो वे सहसा सिहर उठे और उन्होंने अपने राजसी सुखसम्पन्न जीवनको परित्याग कर सन्यासयोग धारण कर लिया। १२ वर्ष कठिन तपस्या करके जब पूर्ण आत्मबल और केवलज्ञान प्राप्त कर लिया तो उन्होंने अहिंसा धर्मका सर्वत्र सिंहनाद किया और स्वयं आदर्श रूप उपस्थित होकर वास्तविक मोक्षमार्गका प्रतिपादन किया।

उनके अपूर्व आत्मबल, निस्वार्थ जीवन, और कल्याणकारी उपदेशसे भारतीय जनता अत्यंत प्रभावित हुई. देशवासियोंको अपने भावी जीवनके सुधारका मार्ग मिल गया, प्रभुने प्राणी मात्रके लिये धर्म द्वार खोल दिया, सभी भव्य आत्माओंको समता रसका पान करा कर स्वतंत्रताका बीज मंत्र सिखा दिया।

भगवान महावीरकी निर्वाणप्राप्तिके बाद उनके अनेक अनुयायियोंने भी निज पर विवेक तथा भेद-विज्ञान प्राप्त कर स्वसंवेदन एवं आत्मचिंतनमें जीवन यापन किया, परन्तु वीरात् सं० ५८३ (विक्रमसं० २१३) तक साक्षात् ज्ञानियोंका सद्भाव रहनेके कारण साहित्यिक, सैद्धान्तिक, वैज्ञानिक आदि विषयोंको लेखबद्ध करनेकी विद्धानोंको आवश्यक्ता प्रतीत नहीं हुई।

इसके पश्चात् तात्विक और चारित्रात्मक सिद्धान्त, जिसकी गुरु परम्परासे मौखिक शिक्षणकी पद्धति उस समय तक चली आ रही थी भावी संततिके हितार्थ पुस्तकारूढ़ किया गया।

उन मूल शास्त्रकार प्रत्यक्ष ज्ञानियोंकी दूसरी तीसरी सन्ततिमें भगवान कुन्दकुन्दाचार्य हुये जिन्होंने तात्विक सिद्धान्तको गुरु परिपाटीसे अध्ययन करके गूढ़ विषयोंका तत्कालीन प्रचलित भाषामें सरल और सुगम रूपसे अनेक प्राभृतोंमें निरूपण किया, अतः जिनेन्द्र प्रणीत आगमको लोकप्रिय, सरल और सुगम रूपसे अनेक प्राभृतोंमें निरूपण किया, अतः जिनेन्द्र प्रणीत आगमको लोकप्रिय, सुगम और व्यापक रूप देनेका श्रेय आचार्यवरको ही प्राप्त है। इनकी रचनाओंके अतिरिक्त जो लेखबद्ध सैद्धान्तिक साहित्य उपलब्ध है वह प्रायः इनके उन्हीं अनुगत आचार्यों द्वारा निर्मित हुआ है जो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूपसे इनकी ही शिष्यपरम्परामें हुये हैं। श्री कुन्दकुन्दाचार्य जैसे सिद्धान्त शास्त्रके प्रथम प्रणेता और जैन आगमके अपूर्व व्याख्याताके जीवनचरित्रका अभाव जैन जनताकी कृतघ्नताका प्रत्यक्ष प्रमाण है।

इस महान अपराधसे स्वयं मुक्त होने और अपने समाजको

निर्दोष करनेके भावसे इनका जीवनचरित्र सम्पादन करनेका कई वर्षोंसे मेरा विचार होरहा था परन्तु मैं यथेच्छित सामग्री और योग्य साधन न मिलनेके कारण इस महत् कार्यमें सफल—मनोरथ न होसका। अब प्रोफेसर ए० एन० उपाध्यायने उक्त आचार्य कृत प्रवचनसारका आंग्ल भाषामें अनुवाद किया और उपक्रम रूपसे उनके जीवनपर भी एक वृहद् लेख लिखा जिसमें उन्होंने आचार्यवरके जीवनचरित्र सम्बंघी प्रत्येक विषयका निष्पक्ष और निर्भीक भावसे अनुसंधान किया, उसे पढ़कर मेरी सुगुप्त इच्छा पुनः जागृत होगई। तब मैंने अपनी दीर्घ-कालीन हृदयस्थ भावनाको अपने मित्र सेठ मूलचंद किंसनदास काप-डिया सूरत पर प्रकट किया, जिन्होंने मेरी सदिच्छाकी अनुमोदना करते हुये मेरी प्रार्थनापर मुझे यथार्थ सहयोग दिया। जिसके फल-स्वरूप मैं आचार्यवरका एक संक्षिप्त जीवनचरित्र उपस्थित कर रहा हूं। मुझे अत्यन्त हर्ष है कि आज मैं अपनी चिरस्थित इच्छाकी पूर्ति करके आचार्यवरकी गुरुदक्षिणासे उऋण होरहा हूं। आशा है कि समाज भी इसका यथोचित आदर करके कृतघ्नताके दोपसे मुक्त हो सकेगा।

अंतमें मैं सेठ मूलचन्द किसनदासजी कापडिया संपादक दिग-म्बर जैन व जैनमित्र सूरतका जिन्होंने मुझे साहस और सहयोग दिया, प्रोफेसर उपाध्याय, पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार सरसावा और अन्य सज्जनोंका जिनके लेखोंसे (प्रत्यक्ष या परोक्ष रूपसे) इस कार्यमें मुझे सहायता मिली है कृतज्ञ हूं, वे सभी महानुभाव धन्यवादके पात्र हैं।

बुलन्दशहर यू० पी०
२५-१२-४१

विद्याभूषण 'दरखशां'
—लेखक।

निवेदन।

दिगम्बर जैन समाजमें श्री कुन्दकुन्दाचार्यजीका प्रभाव इतना है कि आपको भगवान कुन्दकुन्दाचार्यके नामसे संबोधित किया जाता है। श्री० कुन्दकुन्दाचार्यजी समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, रयणसारादि जैसे महान आध्यात्म ग्रन्थोंकी रचना कर गये हैं कि जिनके समान दूसरे आध्यात्मिक ग्रन्थ नहीं हैं। आध्यात्मिक चर्चामें प्रमाणोंकी आवश्यकता पड़ती है तो यह कुन्दकुन्दाचार्यके ग्रन्थ देखे जाते हैं।

श्री कुन्दकुन्दाचार्यका महत्व इसलिये भी बहुत है कि आपको विदेह-गमनका तथा वहां श्री सीमंधरस्वामीके दर्शन व उपदेशका लाभ मिला था। ऐसे भ० कुन्दकुन्दाचार्यका स्वतन्त्र जीवन-वृत्तान्त अभीतक प्रकट नहीं हुआ था, जिसके लिये श्रीमान् बाबू भोलानाथजी जैन मुखत्यार बुलन्दशहर (जो साहित्यके महान विद्वान व लेखक हैं, व जिन्होंने हिन्दी-उर्दूकी २५-३० पुस्तकें लिखी हैं) प्रयत्नशील थे, बहुत हर्ष है कि आपने यह कार्य पूर्ण कर दिया है। अतः यह ग्रन्थ प्रकाशमें आ रहा है। आशा है विद्वद्गण इसका यथेच्छ लाभ उठावेंगे। तथा इस जीवनचरित्रमें यदि कुछ कमी रह गई हो तो उसको पूरी करनेकी कष्ट उठावेंगे। यदि अधिक खोज की जावे तो भ० कुन्दकुन्दाचार्यके विषयमें विशेष प्रकाश पड़ सकता है।

यह पुस्तक 'दिगम्बर जैन' के ३५ वें वर्षके ग्राहकोंको हमारे पिताजीके स्मरणार्थ निकाली हुई ग्रन्थमालासे भेंट दी जा रही है, लेकिन जो 'दिगम्बर जैन' के ग्राहक नहीं हैं उनके लिये इसकी कुछ प्रतियां विक्रयार्थ भी निकाली गई हैं। आशा है इसका भी शीघ्र प्रचार हो जायगा।

सूरत।
वीर सं० २४६८,
चैत्र सुदी १३.
ता. ३०-३-४२।

निवेदक—
मूलचन्द किसनदास कापडिया।
—प्रकाशक।

समर्पण

ॐ

श्री कुन्कुन्दाचार्य

का

यह पवित्र जीवनचरित्र

निःस्वार्थसंयमी त्यागमूर्ति जैनधर्मदिवाकर स्वनामधन्य

स्व० ब्र० शीतलप्रसादजी

की स्मृतिमें

श्रद्धा एवं भक्तिपूर्वक

समर्पित है।

'दरख़शाँ'

विषय-सूची ।

नं०	विषय	पृष्ठ
१	सर्वमान्य महत्त्व	१
२	नामोल्लेख	३
३	कुन्दकुन्द	४
४	पद्मनन्दी	५
५	एलाचार्य	६
६	वक्रग्रीव	८
७	गृद्धपिच्छ	९
८	पितृ कुलादि	११
९	गुरु सम्बंध	१५
१०	समय	२१
११	विदेह-गमन	२७
१२	ग्रन्थ निर्माण	३१
१३	कुरल काव्य	३२
१४	परिकर्म	३३
१५	दश भक्ति संग्रह	३५
१६	मूलाचार	३७
१७	रचनाओंका भावाशय	४१
१८	बारस अणुवेक्खाका भा.	४१
१९	दशभक्ति संग्रहका भा०	४४
२०	मूलाचारका भावाशय	४६
२१	समयसारका भावाशय	५१
२२	पंचास्तिकायका भा०	५६
२३	प्रवचनसारका भा०	५८
२४	दर्शनप्राभृतका भा०	६३
२५	चारित्रप्राभृतका भा०	६३
२६	सूत्रप्राभृतका भावाशय	६५
२७	बोधप्राभृतका भावाशय	६६
२८	भावप्राभृतका भा०	६९
२९	मोक्षप्राभृतका भा०	७०
३०	लिंगप्राभृतका भा०	७१
३१	शीलप्राभृतका भा०	७३
३२	रयणसारका भावाशय	७४
३३	नियमसारका भावाशय	७७

शुद्धिपत्र ।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४	५	मिष्टर	मि० ष्टर
८	२	तत्र	तंत्र
१०	९	नवी	नवीं
१२	३	गम्लवा	मालवा
१३	९	भरकर	मरकर
१६	१	बोधपाठ	बोधपाहुड
१७	१४	प्रथित	ग्रंथित
१९	१३	रू से	रूपसे
२३	३	प्रथित	ग्रंथित
"	४	नागहस्ति आर्यमंक्षु	नागहस्ति और आर्यमंक्षु.
२६	१९	सिद्धात	सिद्धान्त
२८	१०	ऋपि	ऋद्धि
३०	१४	चारण ऋद्ध धारी	चारणऋद्धिधारी.
३०	२०	आध्यत्मिक	आध्यात्मिक
६८	१२	परीपहोकी	परीपहोंको
६९	९	आत्मध्याय	आत्मध्यान
"	१८	बीच	बीज
७०	१७	करे	करें
७४	३	हटे	रत

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
,,	१७	पौद्गलिक	पौद्गलिक
७८	७	अयुक्त	युक्त
७९	९	व्यान	ध्यान
,,	१०	निशःल्य	निःशल्य
८०	७	प्रवृत	प्रवृत्ति
,,	१०	सफल	सकल

मंगलाचरण।

आदि सुमंगल उचित है, अन्त निरापद हेतु।
सो वन्दूं आरम्भमें, आदिनाथ गुण केतु ॥ १ ॥
प्रणमूं गौतम गणपती, ज्ञान गेह गुणराश।
जिन्ह भाषी जिन दिव्यध्वनि, कीनो धर्मप्रकाश ॥ २ ॥
सर्वाक्षेप निवारिणी, श्री जिन धर्मस्तूप।
स्याद्वाद वाणी नमूं, सप्त भंग नय रूप ॥ ३ ॥
कुन्दकुन्द आचार्यको, नमों त्रियोग समार।
जिनको शुभ चारित्र है, नाथ लेख आधार ॥ ४ ॥
मंगलीक मंगल करण, मंगल रूप विचार।
नाथ कथूं मुनिवर कथा, मंगल पद दातार ॥ ५ ॥

भगवान् कुन्दकुन्दाचार्य ।

मंगलं भगवान् वीरो, मंगलं गौतमो गणी ।
मंगलं कुन्दकुन्दाद्याः, जैनधर्मोस्तु मंगलं ॥

सर्वमान्य महत्व ।

इस नित्यस्मरणीय प्रसिद्ध श्लोक द्वारा अंतिम तीर्थंकर श्री भगवान महावीर और उनके मुख्य गणधर श्री इन्द्रभूति गौतमस्वामीके साथर ही इन आचार्यशिरोमणिका मंगलगान इनकी सर्वमान्य महत्ता और पूज्यताका स्पष्ट प्रमाण है।

कर्णाटक भाषाकी एक हस्तलिखित "गणभेद" सम्बन्धी पुस्तकसे जान पड़ता है कि धर्म प्रचारार्थ दक्षिण भारतमें दिगम्बर जैन मुनियोंके चार संघ स्थापित हुये थे, उनमें एक सेन संघके अतिरिक्त, जो श्री वृषभसेनका अन्वयी था शेष तीन नन्दि, सिंह और देवसंज्ञक संघोंका मुनि सम्प्रदाय अपनेको इन आचार्यवरका अन्वयी प्रसिद्ध होनेमें अपना गौरव समझता था क्योंकि उस समय इन आचार्यवरकी तात्विक मर्मज्ञता, सैद्धान्तिक विद्वत्ता, और संयमपरायणता जगत्-विख्यात होचुकी थी, और लोकदृष्टिमें उच्चतम आदर प्राप्त कर चुकी थी।

इनके अनुगत शास्त्रकार इनकी मौलिक रचनाओंसे अध्यात्म-ज्ञानकी शिक्षा पाकर इनका सदैव आभार मानते रहे हैं और इनके सिद्धान्त सम्बंधी वाक्योंको प्रमाणरूपसे अपनी महिमाप्रद कृतियोंमें निःसंकोच उद्धृत करते रहे हैं ।

जिसप्रकार वेदान्तिक साहित्यमें उपनिषिद्, ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता तीनों प्रस्थानत्रयके नामसे प्रसिद्ध हैं वैसे ही इन आचार्य-वरकी तीन अद्भुत रचनायें समयसार, पंचास्तिकाय और प्रवचनसार प्राभृतत्रय या नाटकत्रय कहलाती हैं, और इन्हें सामान्यतः समस्त जैन संसारमें और विशेषतः दिगम्बर जैन समाजमें वही सम्मान प्राप्त है जो वैदिक जगत्में प्रस्थानत्रयको है ।

इस प्राभृतत्रयका प्रणयन इन आचार्यवरने ऐसी योग्यतासे सरल भाषामें किया है कि उनके किसी वाक्यसे तो क्या शब्द मात्रसे भी सिद्धान्त विवेचनामें साम्प्रदायिकताका लेशमात्र भी भान नहीं होता, यही कारण है कि केवल दिगम्बर तारणपंथी श्वेताम्बर और स्थानक-वासी जैन ही अध्यात्मज्ञानकी प्राप्तिकी इच्छासे श्रद्धापूर्वक इन पवित्र रचनाओंका अध्ययन नहीं करते बल्कि अध्यात्म स्वादके रसिक हजारों जैनेतर त्यागी तथा गृहस्थ विद्वान् भी इन पुनीत कृतियोंका प्रेमपूर्वक अनुशीलन कर आंतरिक लाभ लेते आज भी स्वदेश तथा परदेशमें देखे जाते हैं ।

भगवान महावीरके निर्वाणके बाद कर्मप्राभृत और कषायप्राभृत नामक जिन महाशास्त्रोंकी रचना हुई वह विद्वत्समाजके लिये ही विशेषतः पठनीय और मननीय थे, सर्वसाधारण उनसे यथोचित लाभ

नहीं उठा सकते थे, अतः उन्हीं सिद्धान्तशास्त्रोंके मूलाधार पर इन मुनिवरने सार्वजनिक हितके अर्थ तत्कालीन प्रचलित भाषामें अत्यंत सरल और सुगम रूपसे प्रत्येक सैद्धान्तिक विषय पर छोटी २ पुस्तकोंकी रचना की और सिद्धान्त सम्बंधी साहित्यका सर्वत्र प्रचार किया जिससे उस समयका भारत तो उपकृत हुआ ही, बादमें भी विद्वान आचार्योंने इनकी क्षीरोदधि सदृश्य गूढ विषयक रचनाओंसे दुग्धधारायें लेलेकर जैन धर्मरूपी कल्पद्रुमका सिंचन किया।

इन सब वास्तविक घटनाओंका विचार करके सहज ही अनुमान किया जासकता है कि इन आचार्यवरका जैनाचार्योंमें, विशेषतः दिगम्बर शास्त्रकारोंमें कितना ऊंचा आसन रहा है जो आजतक उनकी स्मृति कृतज्ञ हृदयोंको प्रकाशमान कर रही है। वस्तुतः जबतक पृथ्वीतलपर जैन सिद्धान्तका अस्तित्व है इन आचार्यवरका नाम भी अमर रहेगा।

नामोल्लेख।

प्राचीन आख्यायिकाओंके आधारपर जैन संसारमें इनके छः नाम अर्थात्—(१) कुन्दकुन्द, (२) पद्मनंदि, (३) वक्रग्रीव, (४) एलाचार्य; (५) गृद्धपिच्छ, और (६) महामती प्रसिद्ध हैं।

नंदिसंघ सम्बन्धी विजयनगरके शिलालेखमें जो लगभग संवत् १३८३ ई० अर्थात् विक्रमकी १५ वीं शताब्दिमें लिखा गया, महामतीके अतिरिक्त इनके उपर्युक्त शेष पांच नाम दिये हैं। और नंदिसंघकी पट्टावलिमें भी जिसका समय निश्चित नहीं है, इन्हीं पांच नामोंका उल्लेख है।

दिगम्बर आचार्योंकी पट्टावलियोंके तुलनात्मक निबंधमें डाक्टर हर्नेल (Hornele) साहबने भी यही पांच नाम व्यक्त किये हैं।

श्रुतसागरसूरिने जिनका समय ईसाकी १५वीं शताब्दि है, कुंदकुंदाचार्य कृत पटपाहुड़की टीकामें यही पांच नाम दिये हैं परन्तु मिष्टर ग्वरिनाट साहबने जैन शिलालेखोंके विवरणमें नं० २५६ पर इन पांच नामोंके उपरांत इनका छठा नाम महामती भी लिखा है, जिसका अन्य किसी विश्वस्त सूत्रसे समर्थन नहीं होता। संभव है किसी शिलालेखके निर्माता कविने कहीं इन आचार्यवरको परम सिद्धांत वेत्ता और प्रकाण्ड वक्ता होनेके कारण इनका स्तुति गान करते हुए महामती कहकर भी सम्बोधन किया हो। परन्तु मात्र इस हेतुसे यह सिद्ध नहीं होता है कि इन आचार्यवरका महामती भी कोई उपनाम था, न यह आचार्य इस नामसे प्रसिद्ध ही हैं। अतः महामतीके अतिरिक्त इनके अन्य प्रसिद्ध पांच नामोंके विषयमें ही विशेष अनुसंधान करना आवश्यक है।

१--कुन्दकुन्द।

हमारे पूज्य चरित्रनायकका यह नाम इतना लोकप्रसिद्ध और अन्यान्य शास्त्र वर्णित है कि इसे स्वयं सिद्ध ही मान लेना चाहिये।

इसके अतिरिक्त स्वयं आचार्यवरने अपनी एक पावन कृति--"वारस अणुवेक्खा" (द्वादश अनुप्रेक्षा) में अपना यह नाम व्यक्त किया है। अतः इस नामका उल्लेख साध्य कोटिमें ही नहीं रहता।

यद्यपि इस पुस्तककी किसी २ हस्तलिखित प्रतिमें संभवतः प्रतिलिपि कर्ताकी किसी भूलके कारण यह नाम निर्देषक अन्तिम

गाथा नहीं मिलती तथापि इससे आचार्यवरका यह उपनाम होनेका स्वयंसिद्ध विषय संदिग्ध नहीं हो जाता ।

इनके प्राभृतत्रयकी सर्व प्रथम "तत्व प्रदीपिका वृत्ति" श्री अमृतचंद्रसूरिने लिखी जो भट्टाकलंकदेवसे पूर्व विक्रमकी छठी शताब्दिमें हुये हैं, क्योंकि उनका उल्लेख भट्ट महोदयने किया है जो विक्रमकी सातवीं आठवीं शताब्दिके विद्वान हैं, परन्तु सूरिजीने मूल कर्ता आचार्यके नामादिके विषयमें कुछ नहीं लिखा ।

हां, प्राचीन शिलालेखोंमें इनका नाम द्राविड भाषा भाषियोंके उच्चारणानुसार प्रायः कौण्डकुन्द पाया जाता है। संस्कृत भाषामें "कुन्द-कुन्द" इसीका सरल और श्रुतिमधुर रूप है ।

२–पद्मनन्दि ।

श्री इन्द्रनन्दि आचार्यने जो विक्रमकी ११ वीं शताब्दिमें हुये हैं स्वरचित "श्रुतावतार" की गाथा १६०–१६१ में लिखा है कि पद्मनन्दि आचार्य कौण्डकुन्दपुर निवासी थे—

> एवं द्विविधो द्रव्यभाव, पुस्तकगतः समागच्छन् ।
> गुरुपरिपाट्या ज्ञातः, सिद्धान्तः कुण्डकुन्दपुरे ॥१६०॥
> श्रीपद्मनन्दिमुनिना सोऽपि, द्वादशसहस्रपरिमाणः ।
> ग्रंथपरिकर्मकर्ता पटखंडाद्यत्रिखंडस्य ॥ १६१ ॥

स्वामी इन्द्रनन्दिने तो इस नामके अतिरिक्त इन आचार्यवरका और कोई वास्तविक या गुणप्रत्यय नाम व्यक्त ही नहीं किया । प्राभृतत्रयकी "तात्पर्यवृत्ति" नामक बृहद् टीकाके कर्ता श्री जयसेना-

चार्यने, जिन्होंने प्रवचनसारकी टीकाकी समाप्तिका समय स्वयं विक्रम संवत् १३३९ दिया है, पंचास्तिकायकी टीकाके आरम्भमें मूल कर्ता श्री कुन्दकुन्दाचार्यका दूसरा नाम पद्मनन्दि भी लिखा है ।

ईसाकी बारहवीं तथा विक्रमकी तेरहवीं शताब्दिके शिलालेखोंमें इनका नाम स्पष्टतः पद्मनन्दि दिया है, जिससे विदित होता है कि द्राविड़ देशीय कौण्डकुन्दपुर इनका निवासस्थान होनेकी अपेक्षासे यह कुन्दकुन्दाचार्य प्रसिद्ध हुये । उदाहरणरूप देखिये शिलालेख नं० ४० तथा ४२, जो आगे "विदेहगमन" शीर्षकमें उद्धृत हैं ।

यद्यपि इन शिलालिखित पट्टावलियोंका रचना काल ईसाकी १५ वीं शताब्दिसे पूर्वका निश्चित नहीं है तो भी उनका बहुतसा भाग प्राचीन माना जासकता है । और जबतक कोई विरोधी समर्थ प्रमाण बाधक न हो, तद्वर्णित कोई विषय सहसा अविश्वसनीय कह देना न्यायसंगत नहीं । अतः यह मान लेनेमें कोई आपत्ति नहीं कि इन आचार्यवरका जन्म नाम या दीक्षा समयका गुरुप्रदत्त नाम पद्मनंदि है । नन्द्यान्त होनेके कारण जन्मनामकी अपेक्षा, नन्दिसंघके गुरु द्वारा दिया हुआ यह इनका दीक्षित नाम अधिक संभवित है ।

३—एलाचार्य ।

छिचकाहन सोडोके शिलालेखमें एक एलाचार्यका वर्णन है जो देशीयगण और पुस्तकगच्छसे सम्बद्ध थे । परन्तु इन आचार्यवरसे इनका कोई सम्पर्क नहीं पाया जाता ।

धवला टीकामें जो उसके प्रणेता वीरसेनाचार्यने प्रशस्ति दी है उससे ज्ञात होता है कि ग्रंथकार महोदयने एलाचार्यसे सिद्धान्त सम्बंधी

शिक्षा प्राप्त की थी, उस सिद्धान्तका विशेष प्रकरण जयधवल ग्रन्थमें दिया है और उसमें भी ग्रन्थकारने ऐसा ही व्यक्त किया है।

जस्स सेसाण्ण मये, सिद्धंतमिदिहि अहिलं हुदी ।
महुसो एला इरिओ, पसियउ वर वीरसेणस्स ॥

वीरसेन आचार्यकी यह महत्वपूर्ण रचनायें कुन्दकुन्दके बहुत बाद ईसाकी आठवीं शताब्दिकी हैं।

इन्द्रनन्दि कृत श्रुतावतारमें एलाचार्यके विषयमें लिखा है कि वे चित्रकूटके वासी थे, और सिद्धान्तके पारंगत विद्वान थे, तथा वीरसेनने इनसे सिद्धान्तकी शिक्षा प्राप्त की थी। चित्रकूटसे लौटकर वाटग्राममें वीरसेनने धवलग्रंथकी रचना की थी।

काले गते कियत्यपि ततः पुनश्चित्रकूटपुरवासी ।
श्रीमानेलाचार्यो बभूव सिद्धान्ततत्वज्ञः ॥ १७६ ॥
तस्य समीपे सकलं सिद्धान्तमधीत्य वीरसेनगुरुः ।
उपरितमनिबंधनाद्यधिकारा नष्ट लिलेख ॥ १७७ ॥

(श्रुतावतार)

इन्हीं इन्द्रनन्दिने श्रुतावतारकी गाथा १६०, १६१ में जो पहिले उद्धृत की जाचुकी हैं पद्मनन्दिको कौण्डकुन्दपुर निवासी लिखा है, जिन्होंने षट्खण्डागम महाशास्त्रके प्रथम तीन खंडोंकी परिकर्म नामक विस्तृत टीका रची।

इससे सिद्ध होता है कि एलाचार्य और कुन्दकुन्दाचार्य दो भिन्न व्यक्ति थे जिनके शासनकालमें कई शताब्दियोंका अन्तर है।

हेमग्राम निवासी एक एलाचार्यका भी उल्लेख मिलता है।

सम्भव है प्रान्तीय उच्चारण भेदके कारण इन्हींको एलाचार्य मान लिया जाय। परन्तु यह महामना एलाचार्य द्राविडसंघके मंत्रपाठी और तंत्र रचयिता आचार्य थे, जो वीरसेनाचार्यके शिक्षागुरु एलाचार्यसे भी पीछे हुये हैं, जिन्होंने ईसवी सन् ९३९ में ज्वालिनीमतकी स्थापना की। अतः हमारे चरित्रनायकका यह नाम नहीं होसकता।

४-वक्रग्रीव।

सर्व प्रथम इस नामके एक आचार्यका उल्लेख सं० ११२५ के शिलालेखमें द्राविड संघ असंगलान्वयकी गुर्वावलिमें मिलता है। इसके बाद स० ११२९ के श्रवणवेलगोलके शिलालेखमें यह नाम आया है। इसकी पांचवी गाथामें लिखा है कि कोण्डकुन्द सभीके सन्मान करने योग्य हैं। क्योंकि इनके ज्ञान-कमलकी सुगंधि चारों ओर फैल रही है, आदि। गाथा ६ से ९ तक श्री समंतभद्र और सिंहनन्दि आचार्योंका गुणगान किया है, १० वीं गाथामें वक्रग्रीवकी प्रशंसा की गई है कि वह एक महत्त्वशाली वक्ता और सभाजीत विद्वान थे।

इस शिलालेखकी क्रमवद्ध वर्णनशैलीसे स्पष्ट विदित होता है कि वक्रग्रीव नामके आचार्य हमारे चरित्रनायक आचार्यसे भिन्न विद्वान व्यक्ति थे जो उनसे बहुत पीछे हुये हैं। इसके अतिरिक्त सं० ११३७-११५८-११६८ के शिलालेखोंमें वक्रग्रीवके सम्बन्धमें कथन है परन्तु यह कहीं नहीं लिखा है कि कुन्दकुन्द और वक्रग्रीव एक ही व्यक्तिके नाम हैं।

निस्संदेह कुन्दकुन्दस्वामी नन्दिसंघके मान्य आचार्य थे और

वक्रग्रीव द्राविड संघके गुरु थे। अतः दोनों भिन्न २ व्यक्ति थे।

नन्दिसंघकी पट्टावलिमें कुन्दकुन्दाचार्यके उत्तराधिकारी रूपसे तदन्वयी तत्वार्थसूत्रके कर्ता उमास्वामीका आचार्य पदपर प्रतिष्ठित होना प्रतिपादित किया है। तत्वार्थाधिगम सूत्रकी बृहद् टीका 'सर्वार्थसिद्धि" के प्रणेता श्री देवनन्दि पूज्यपाद हुये हैं, उनके शिष्य वज्रनन्दिने द्राविड़ संघकी वि० सं० ५२६ में स्थापना की जैसा कि श्री देवसेनसूरीने स्वरचित "दर्शनसार" में प्रतिपादन किया है:—

सिरिपुज्जपादसीसो, दाविडसंघस्स कारणो दुट्ठे।
णामेण वज्जणंदी, पाहुडवेदी महासत्तो॥
पंचसये छव्वीसो, विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स।
दक्खिनमहाराजादो, दाविडसंघो महामोहो॥

इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि जिस द्राविड संघकी उत्पत्ति 'पूज्यपादके शिष्य द्वारा हुई उस संघके गुरु वक्रग्रीव अवश्य पूज्यपादके पूर्वज आचार्य कुन्दकुन्दस्वामीसे भिन्न व्यक्ति थे। अतः हमारे चरित्र-नायकका अपर नाम वक्रग्रीव भी कदापि नहीं माना जा सकता।

५—गृद्धपिच्छ।

इन आचार्यवरकी विदेह क्षेत्र यात्राके वृत्तान्तमें ज्ञानप्रबोधमें लिखा है कि मार्गमें जब इनकी पिच्छिका गिर गई तो इन्हें मान-सरोवरके तटपर गृद्ध पक्षियोंके गिरे हुये पंखोंकी पिच्छिका बनाकर दी गई इससे इनका नाम गृद्धपिच्छ प्रसिद्ध हुआ। दर्शनसारमें

विदेह यात्राका समर्थन तो है परन्तु गृद्धपिच्छ ग्रहण करनेका कोई उल्लेख नहीं है ।

इनके अन्वयी उमास्वामी भी गृद्धपिच्छ नामसे प्रख्यात थे ।

ईसाकी आठवीं शताब्दिके विद्वान विद्यानन्दिने जो इन्हीं आचार्यके अन्वय और शिष्य परम्परामें हुये हैं, तत्वार्थसूत्रकी टीका "राजवार्तिक" में श्री उमास्वामीको गृद्धपिच्छ लिखा है । यथा—

एतेन गृद्धपिच्छाचार्य धुर्यंतं, मुनिसूत्रेण व्यभिचारिता निरस्ता प्रकृतसूत्रे ।

ईसाकी नवी शताब्दिमें रचे हुये धवल ग्रन्थमें भी तत्वार्थसूत्रके कर्ताको गृद्धपिच्छ नामसे उल्लिखित किया है ।

श्रवणबेलगोलके शिलालेखमें जो १११५ से १३९८ ई० तक सम्पादित हुआ था, कुन्दकुन्दस्वामीके बाद उमास्वाति (स्वामी) का उनके गुण प्रत्यय गृद्धपिच्छ नामसे वर्णन किया है यथा—

तत्वार्थसूत्रकर्तारं गृद्धपिच्छोपलक्षितम् ।
वन्दे गणींद्रसंजातमुमास्वामिमुनिश्वरं ॥

परन्तु इस शिलालेखमें कुन्दकुन्दस्वामीके साथ गृद्धपिच्छ विशेषण नहीं दिया है । यदि वह भी इस नामसे प्रसिद्ध होते तो शिलालेखमें जहां उनका वर्णन किया गया है उनको भी गृद्धपिच्छ नामसे अवश्य वर्णन किया जाता ।

इसके अतिरिक्त और भी शास्त्रकारोंने तत्वार्थसूत्रके कर्ता उमास्वामीको गृद्धपिच्छ घोषित किया है परन्तु हमारे चरित्रनायकको १४ वीं शताब्दिसे पूर्वके किसी शास्त्र या शिलालेखमें गृद्धपिच्छ-

नामसे व्यक्त नहीं किया गया। बादमें इनको इस नामसे कहीं निर्दिष्ट करना नितांत निराधार है।

तात्पर्य, उपरोद्धृत प्रमाणों और हेतुओंसे सिद्ध होता है कि हमारे चरित्रनायकका पद्मनन्दि और कुन्दकुन्दाचार्यके अतिरिक्त और कोई नाम नहीं था।

पितृकुलादि।

पुण्याश्रव कथा-कोशमें इन आचार्यवरका गार्हस्थिक जीवन इस प्रकार दिया है कि भरतखण्डके दक्षिण प्रान्तीय पिदाथनाड्ड जिलेके अन्तर्गत कुरुमारई नगरमें कर्मुंड सेठ अपनी धर्मपत्नी श्रीमती सहित रहता था, उसके बालवयस्क ग्वाला मथिवरनने उद्यानमें कुछ वृक्ष पतझड़की ऋतुमें फलेफूले देखे। वहां जाकर उसने वहां एक मुनिस्थान देखा जहां शास्त्रोंकी एक पेटी रक्खी हुई थी। उसने यह भी देखा कि समग्र उद्यान दावानलसे भस्म होचुका है परन्तु वह स्थान बिल्कुल सुरक्षित है।

ग्वाला उन शास्त्रोंको अपने घर लेआया और उन्हें एक पवित्र उच्च स्थानपर विराजमान करके श्रद्धापूर्वक उनकी पूजा करने लगा।

एक दिन उसके स्वामी सेठने एक मुनिको आहारदान किया उसी समय उस ग्वालाने उन्हें वह शास्त्र भेटकर दिये। मुनि महाराजने सेवक और स्वामी दोनोंको आशीर्वाद दिया, जिसके फलस्वरूप उस ग्वालबालने मरकर उसी निस्संतान सेठके घर जन्म लिया और शास्त्र-दानके प्रभावसे समस्त सिद्धान्तका पारगामी होगया। अन्तमें उसने वैराग्य भावोंसे प्रेरित होकर दिगम्बरी दीक्षा धारणकर ली, और दुर्द्धर

तपश्चरण करके आचार्यपद प्राप्त किया, यह आचार्य हमारे चरित्र-नायक श्री कुन्दकुन्दस्वामी ही थे ।

ज्ञान प्रबोधमें वह कथा इस भांति लिखी है कि—मलवा प्रांतस्थ वारांपुर नगरमें जहां राजा कुमुदचंद अपनी रानी कुमुदचंद्रिका सहित शासन करता था । कुंदश्रेष्ठिकी धर्मपत्नी कुन्दलताकी कोखसे एक पुत्ररत्नका जन्म हुआ, जिसका नाम उन्होंने कुंदकुंद रक्खा । वह सेठ-पुत्र जब बाल्यावस्थामें अपने बाल-सखाओंके साथ खेल रहा था, तब उसे एक मुनिराजके धर्मोपदेश सुननेका सौभाग्य प्राप्त होगया, जिसके लिये जनता एकत्र थी ।

मुनिश्रीके प्रवचनसे प्रभावित होकर वह श्रेष्ठिपुत्र उन्हीं मुनि महाराजके साथ रहने और उनसे शिक्षा पाने लगा । अन्ततः जिनेश्वरी दीक्षा लेकर तप किया और आचार्यपद प्राप्त कर लिया ।

इन्द्रनन्दिकृत श्रुतावतारमें इन आचार्यवरको कौण्ड कुन्दपुर नगरका निवासी लिखा है । इससे विदित है कि दोनों आख्यायिकाओंमें इनका जन्मस्थान यथार्थ दिया है । इसके अतिरिक्त इन कथाओंकी प्रमाणिकता किसी प्राचीन आर्षग्रन्थसे सिद्ध नहीं होती ।

स्वयं आचार्यवरने अपनी किसी रचनामें अपनी परिचयात्मक प्रशस्ति नहीं दी, न किसी और शास्त्रकारने इनके माता पिता, जन्मस्थान आदिके सम्बन्धमें कुछ निर्देश किया ।

संस्कृत भाषाके पुण्याश्रव कथा-कोशका जो हिन्दी अनुवाद हुआ है उसमें यह कथा नहीं है परन्तु नागराजने जो कर्णाटक भाषामें सन् १३३१ ई० में उसका उल्था किया है, और उसका अनुवाद

रामचन्द्र मुमुक्षुने शाका सम्वत् १७३१ में मरहठी भाषामें किया है, उसमें यह कथा दी गई है जिसकी यथार्थता सहसा विश्वसनीय नहीं है।

आराधनाकथाकोषमें भी जो सन् १९०७ ई० में संपादित हुआ है, यह कथा लिखी है जिसमें ग्वालाका नाम गोविंद बताया है और कहा है कि उसने एक गुफामें कोई शास्त्र पाया जिसे लाकर उसने पद्मनंदि मुनिको भेट किया। यह वही शास्त्र था जिसका अध्ययन करके बहुतसे मुनिजन सिद्धांतके पारगामी होचुके थे। अतः वह ग्वाला मरकर अगले भवमें शास्त्रदानके प्रभावसे कौंडकुन्द नगरका अधिपति हुआ। और परम पुण्यके पूर्व संस्कारोंसे उसको वैराग्यभाव उत्पन्न होगये जिनसे प्रेरित होकर कौण्ड नरेशने जिन-दीक्षा धारण कर ली, और थोड़े दिन तपस्या करके वह श्रुतकेवली होगये।

इस कथासे कुन्दकुन्दाचार्यका कुछ सम्बन्ध नहीं जान पड़ता, न उनका कौटुम्बिक परिचय मिलता है। जिस पद्मनंदि मुनिका इस कथामें नाम आया है वह श्रुतकेवलियोंके प्रादुर्भावसे भी पूर्व किसी समयमें हुये होंगे।

ठीक इसी प्रकारकी पुण्याश्रव वर्णित कथा है। इन कथाओंकी वर्णनशैलीपर विचार करनेपर यही भान होता है कि यह कथायें केवल शास्त्रदानका महात्म्य दिखानेके भावसे दृष्टान्तरूप गढ़ ली गई हैं।

ज्ञानप्रबोध वर्णित कथा भी बहुत ही आधुनिक रचना प्रतीत होती है जिसका मूलाधार आर्षग्रन्थ या शिलालेख नहीं है। इसमें राजा रानी और सेठ सेठानीके नाम स्पष्टतः कल्पित जान पड़ते हैं।

इसप्रकारकी विरोधात्मक और कल्पित कथायें ऐतिहासिक सामग्रीके रूपमें ग्रहण नहीं की जा सकतीं । हां ! श्रुतावतारके आधारपर अधिकाधिक इतना कहा जा सकता है कि हमारे चरित्र-नायक आचार्य दक्षिण भारतके कौण्डकुन्दपुर नगरके वासी उस समय थे जब उन्होंने गुरुसे ज्ञान प्राप्त किया था परन्तु निश्चयरूपसे यह नहीं कह सकते कि यह नगर इनका जन्मस्थान अथवा बालक्रीड़ा-गृह भी था, संभव है कि इस नगरमें भी धर्मप्रचारार्थ कोई मुनि संघ स्थापित हो जिसका अनुशासन करनेके लिये हमारे चरित्रनायक आचार्यरूपसे वहां निवास करते रहे हों, तभी तो यह इस स्थानके सम्बंधसे वहांके आचार्य अर्थात् कौण्डकुन्द या कुन्दकुन्द आचार्य प्रसिद्ध हुये ।

श्रवणबेल्गुलके ४० वें शिलालेखमें इनको चंद्रगुप्त (मौर्य सम्राट्) का वंशज व्यक्त किया है । यथा—

श्री भद्रस्सर्वतो यो हि, भद्रबाहुरितिश्रुतः ।
श्रुतकेवलिनाथेषु, चरमः परमो मुनिः ॥

चन्द्रप्रकाशोज्ज्वलसांद्रकीर्तिः, श्रीचन्द्रगुप्तोऽजनितस्य शिष्यः ।
यस्य प्रभावाद्वनदेवताभिराराधितः स्वस्य गणो मुनीनां ॥
तस्यान्वये भूविदिते बभूव यः पद्मनन्दिप्रथमाभिधानः ।
श्रीकोण्डकुन्दादिमुनीश्वराख्यस्सत्संयमादुद्गतचारणर्द्धिः ॥

इसी प्रकार शिलालेख नं० १०८ में भी वर्णन किया है ।

तदीयशिष्योऽजनि चन्द्रगुप्तः, समग्रशीला नतदेववृद्धः ।
विशेषय तीव्रतपःप्रभाप्रभूतकीर्तिर्भुवनांतराणि ॥

तदीयवंशाकरतः प्रसिद्धादभूतदोषायति रत्नमाला ।
वभौ यदन्त मणिवान्मुनींद्रस्स कुन्दकुन्दोदित चण्डदण्डः ॥

इन शिलालेखोंके आधारपर इन आचार्यवरको महाराजा चंद्र-गुप्त मौर्य सम्राट्का वंशज मान लेनेपर भी यही धारणा ठीक होगी कि इन आचार्यवरके जन्मस्थान, कुल, जाति, मातापिताके नाम तथा गार्हस्थिक जीवनका निश्चयात्मक परिचय देनेके लिये कोई प्रमाणिक और विश्वस्त सामग्री उपलब्ध ही नहीं है। परन्तु ऐसे महत्त्वशाली लोकप्रसिद्ध आचार्यके जीवन-चरित्रमें इनका गृह-जीवन या पारिवारिक परिचय देना विशेषरूपसे कुछ आवश्यक भी नहीं है।

तस्यात्मजस्तस्य पितेति देव त्वां, येऽनगायन्ति कुलं प्रकाश्य ।
तेऽद्यापि नन्वाश्मनमित्यवशं, पाणोकृतं हेमपुनस्त्यजन्ति ॥

अर्थात्—हे देव ! जो लोग आपका कुल प्रकट करके आपकी प्रशंसा करते हैं कि आप अमुकके पुत्र और अमुकके पिता हैं वे मानो हाथमें आये हुये स्वर्णको पत्थर समान फैंकते हैं।

तात्पर्य यह है कि पूज्य और स्तुत्य व्यक्तियोंकी प्रशंसा तो केवल उनके निज गुणोंकी अपेक्षासे ही की जाती है और की जानी चाहिये। कुल, जाति, पुत्र, पिता आदिका परिचय उनके गुणानुवादके लिये बिल्कुल निरर्थक है।

गुरुसम्बन्ध ।

इन आचार्यवरने स्वयं अपने गुरुकुलकी भी प्रशस्ति अपनी किसी रचनामें नहीं दी। कुछ विद्वानोंका विचार है कि स्वयं आचार्य-

वरने स्वकृत बोधपाठकी गाथा ६१ में अपनेको श्री भद्रबाहुका शिष्य प्रतिपादित किया है:—

सद्दवियारो हुओ, भासा सुत्तसुजं जिणं कहियं ।
सो तह कहियं णायं, सीसेण भद्दबाहुस्स ॥ ६१ ॥

अर्थ—जैसा जिनेन्द्र भगवानने उपदेश दिया है वैसा ही भाषा-सूत्रोंमें शब्द विकारको प्राप्त हुआ, और वैसा ही भद्रबाहुके शिष्य (प्राभृतकर्ता) ने जाना और वर्णन किया ।

अब देखना यह है कि उक्त गाथा वर्णित भद्रबाहुस्वामी प्रथम भद्रबाहु श्रुतकेवली हैं या द्वितीय भद्रबाहु हैं जो एकांग ज्ञानी थे, और यह भी देखना है कि वास्तवमें यह आचार्यवर इन दोनोंमेंसे किसी भद्रबाहुके शिष्य थे या किसी अन्य भावसे उन्होंने ऐसा लिखा है।

इसी बोधपाहुडकी गाथा ६२ स्वयं इस समस्याको अधिकांशमें स्पष्टकर देती है:—

बारस अंग वियाणं, चउदस पूव्वं विफल विच्छरणं ।
सुय णाण भद्दबाहु, गमयगुरु भयवउ जयउ ॥ ६२ ॥

अर्थ—बारह अंग और अधिक विस्तारवाले चौदह पूर्वके विशेष ज्ञाता श्रुतज्ञानी, गमकगुरु भद्रबाहु भगवान जयवंत हों ।

इन दोनों परस्पर सम्बद्ध गाथाओंपर साथ २ विचार करनेसे स्पष्टतः जाना जासकता है कि भगवान भद्रबाहु श्रुतकेवलीको ही आचार्यवरने अपना ज्ञानगुरु मानकर उनका जयघोष किया है न कि एकांग ज्ञानी भद्रबाहु द्वितीयको, अतः यह आचार्य भद्रबाहु द्वितीयके

शिष्य थे या नहीं, इसपर इन गाथाओंके आधारपर विचार करनेका बिल्कुल स्थान नहीं है।

यह विषय सुनिश्चित है कि भगवान महावीरके निर्वाण लाभसे १६२ वर्ष वादतक अर्थात् विक्रम सम्वत्से ३०८ वर्ष पूर्वतक श्री भद्रवाहु श्रुतकेवलीका समय रहा।

श्री आदिपुराण, हरिवंशपुराण, त्रिलोकप्रज्ञप्ति और श्रुतावतार आदि प्रामाणिक ग्रन्थोंसे यह भी सिद्ध है कि वीरात् ६८३ या वि० सं० २१३ के लगभग ही श्रीधरसेन और गुणधर अंगपूर्वांश वेदी आचार्योंने अपनी शेप आयु अल्प जानकर इस भयसे कि कहीं धर्म-सिद्धान्तका भविष्यमें व्युच्छेद न होजाय, अपने निजज्ञान तथा श्रुतविज्ञानके बलपर क्रमश. कर्मप्राभृत और कषायप्राभृतको सूत्रोंमें लेखबद्ध कराया।

इससे ध्वनित होता है कि इससे पूर्व जिनेन्द्र भगवानका तत्वोपदेश भाषासूत्रोंमें ग्रथित होकर शब्द-विकारको प्राप्त नहीं हुआ था बल्कि श्रुतज्ञानी तथा अंग और पूर्वके ज्ञाता मौखिक उपदेशों द्वारा ही उस समयतक धर्ममार्गका प्रतिपादन करते रहे थे, और भव्यात्मा श्रोताजन तत्वचर्चाको वैसे ही घटस्थ कर लेते थे।

गाथा ६१ में आचार्यवरने स्पष्ट कहा है कि भगवानका उपदेश जब सूत्रबद्ध होगया तो उसे अध्ययन करके इन्होंने उसका ज्ञान प्राप्त किया, और उसीके अनुसार इस प्राभृतमें कथन किया। इससे विदित है कि इन आचार्यवरके अस्तित्वका समय आद्य शास्त्रोंके रचना कालके बाद ही था, जिसका स्वाभाविक निष्कर्ष यह निकलता है कि भद्रबाहु

श्रुतकेवली जो उस समयसे कई शताब्दि पूर्व विद्यमान थे, इनके शिक्षा या दीक्षागुरु नहीं होसकते ।

श्री देवसेनसूरिने दर्शनसारमें श्वेताम्बर संघकी उत्पत्तिका समय वि० सं० १३६ दिया है, यथा:—

एकसये छत्तीसे, विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स ।
सोरट्ठे वलहीये, उप्पण्णो सेवडो संघो ॥

हमारे चरित्रनायक आचार्यवरने अपने सूत्र पाहुडमें वस्त्रधारी मुनियों और स्त्रियोंके मुक्तिविधानादि श्वेताम्बरीय मुख्य सिद्धान्तोंका घोर विरोध किया है । इससे भी स्वतः सिद्ध होता है कि इन आचार्य वरका समय वि० सं० १३६ के बाद प्रवर्ता । अतः यह श्री भद्र-बाहु श्रुतकेवलीके शिष्य नहीं माने जासकते ।

श्रवणबेल्गुलके शिलालेख नं० ४० और १०८ से, जिनका आवश्यक भाग ' पितृकुलादि " में उद्धृत किया है, यह विदित है कि यदि यह आचार्य चंद्रगुप्त मौर्यके वंशज थे अर्थात् उनकी वंशपरम्परामें हुये तो भी उन्होंने उनसे कुछ पीढ़ियों बाद जन्म धारण किया । अतः चन्द्रगुप्त सम्राट्से पीढ़ियों बाद होनेवाले उनके वंशज कुन्दकुन्दाचार्य, उस राजर्षि (चंद्रगुप्त) से दीर्घकाल पूर्व स्वर्गस्थ होजानेवाले भद्रबाहु श्रुतकेवलीके शिष्य कदापि नहीं होसकते ।

श्रुतावतारकी गाथा नं० १६१ में, जो "नामोल्लेख" में उद्धृत है स्पष्ट लिखा है कि पद्मनंदि (कुन्दकुन्द) आचार्यने षट्खण्डागम महाशास्त्रको जिसका सम्पादन वि० सं० २१३ के बाद अर्थात् श्रुतकेवलियोंकी समय समाप्तिसे ५२१ वर्ष बाद आरम्भ हुआ;

अध्ययन करके १२ हजार श्लोकप्रमाण इसके तीन खण्डोंकी 'परिकर्म' नामक बृहद् टीका निर्माण की।

इन सब साक्षियोंकी उपस्थितिमें चरित्रनायक आचार्य श्री भद्रबाहु श्रुतकेवलीके शिष्य सिद्ध नहीं होते। फिर इन्होंने बोधपाहुड़में जो कुछ उनको अपना गुरु माननेके विषयमें लिखा है वह केवल परम्परा गुरु मानकर ही भक्तिभावसे कहा है।

अब संदेहनिवारणार्थ यह देखना भी उचित जान पड़ता है कि आचार्यवर भद्रबाहु द्वितीयके भी शिष्य सिद्ध होते हैं या नहीं।

इस विषयमें न तो स्वयं आचार्यवरने ही इन्हें अपना गुरु माना है और न किसी शिलालेख या शास्त्र अथवा अन्य प्रकारसे इसका कोई प्रमाण मिलता है।

भद्रबाहु द्वितीयका समय वि० सं० ११०, तक रहा है, जिसका गणितात्मक विवरण "समय" प्रकरणमें स्पष्ट रूपसे दिया है। फिर वि० सं० २१३ के बाद निर्मित हुये षट्खंडागम महाशास्त्रके टीकाकार आचार्य श्री कुंदकुंद स्वामी एक शताब्दि पूर्व होनेवाले आचार्य भद्रबाहु द्वितीयके शिष्य कैसे माने जासकते हैं?

परन्तु कुन्दकुन्द जैसे प्रज्ञाप्रधान सिद्धांतवेत्ताको निगुरु मान लेना भी युक्तियुक्त नहीं जान पड़ता। अतः वे किस गुरुके शिष्य थे इसका विशेष अन्वेषण करना आवश्यक है।

इन आचार्यवरकी रचना प्राभृतत्रयके वृत्तिकार श्री जयसेनाचार्यने वि० सं० की १४ वीं शताब्दिमें पंचास्तिकायकी टीकाके प्राक् कथनमें इन्हें सिद्धान्तदेव कुमारनन्दिका शिष्य लिखा है, और नन्दिसंघकी गुरवावलिमें प्रथम आचार्य माघनन्दि, उनके बाद जिनचन्द्र और तत्प-

श्चात् कुन्दकुन्दआचार्यको उत्तराधिकारी पदाधीश निर्दिष्ट किया गया है।

सिद्धान्तदेव कुमारनंदि (जिनचन्द्राचार्य) ने किसी ग्रंथका निर्माण नहीं किया जो आज हमें उपलब्ध होता, या किसी अनुगत आचार्यने अपने किसी शास्त्रमें उनका नामोल्लेख नहीं किया, यह कोई समर्थ युक्ति जयसेनाचार्यकी उपर्युक्त मान्यता और गुरवावलिके कथनकी सार्थकताको अयथार्थ मान लेनेकी नहीं है। और जबतक कोई प्रबल प्रमाण बाधक न हो साधारणतः प्रत्येक आचार्यके कथन तथा पट्टावलि आदिके लेखोंको प्रमाणित ही मानना चाहिये।

इस सिद्धान्तके आधीन यह मानना पड़ेगा कि जिनचन्द्राचार्य श्री माघनंदि पदांशवेदीके समसामयिक आचार्य अवश्य थे। तभी तो उनके उत्तराधिकारी हुये।

नामशैली, प्रसिद्ध आख्यायिका, श्री जयसेनाचार्यके उपर्युक्त कथन और श्रुतावतारके इस वर्णन पर कि कुन्दकुन्दस्वामीने गुरु परिपाटीसे आद्य सिद्धान्त शास्त्रोंका ज्ञान प्राप्त करके परिकर्म नामक बृहद् टीका लिखी, एकत्र विचार करनेसे निस्संदेह यही धारणा होती है कि कुमारनंदि आचार्य जो सिद्धान्तशास्त्रके विशेषज्ञ होनेके कारण सिद्धान्तदेवकी उच्च उपाधिसे प्रसिद्ध थे, जैसे सिद्धान्त–प्रवीण और प्रांजल विद्वान आचार्य हमारे चरित्रनायकके शिक्षागुरु होसकते हैं।

इस मान्यताका भी कोई युक्तियुक्त विरोध नहीं जान पड़ता कि संभवतः श्री जिनचन्द्राचार्यका ही नन्दिसंघाचार्य द्वारा दीक्षित होने पर नन्द्यान्त नाम कुमारनन्दि था और यह दोनों नाम जिस एक ही आचार्यके थे वही हमारे चरित्रनायक श्री कुन्दकुन्दस्वामीके गुरु थे।

समय ।

इन्द्रनंदि कृत श्रुतावतारके अनुसार भगवान् महावीरके मुक्ति-लाभके पश्चात् क्रमशः गौतमस्वामी १२ वर्ष, सुधर्मस्वामी १२ वर्ष और जंबूस्वामी ३८ वर्ष तक अर्थात् तीनों केवलज्ञानी ६२ वर्ष पर्यन्त धर्मतत्वका साक्षात्कार करते रहे । तदनंतर विष्णुकुमार, नंदि-मित्र, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु (प्रथम) नामके पांच श्रुतके-वलियोंका धर्मशासन १०० वर्ष तक रहा, पुनः विशाखाचार्य, प्रोष्ठि-लाचार्य, क्षत्रियाचार्य, जिनसेनाचार्य और नागसेनाचार्य नामके पांच मुनिराज ११ अंग और १० पूर्वके ज्ञाता १८३ वर्ष पर्यंत विद्यमान रहे । तत्पश्चात् सिद्धार्थ, धृतिसेन, विजयदेव, बुद्धिबलि, गङ्गदेव, धर्मसेन, नक्षत्राचार्य, जयपाल, पांडव, ध्रुवसेन और कंसाचार्य; यह ११ अंगके धारी २२० वर्षके भीतर हुये । इनके बाद सुधर्म ६ वर्ष, यशोभद्र (जयभद्र) १८ वर्ष, यशोबाहु (भद्रबाहु द्वितीय) २३ वर्ष और लोहाचार्य ७१ वर्ष तक केवल एक अंग (आचारांग) के ज्ञाता ११८ वर्ष पर्यंत धर्ममार्गका प्रकाश करते रहे ।

इस प्रकार ६२+१००+१८३+२२०+११८=६८३ वर्ष वीर निर्वाणके बाद अथवा ६८३−४७०=२१३ विक्रम संवत् तक प्रत्यक्ष ज्ञानियोंका शासन वर्तमान रहा ।

त्रिलोकप्रज्ञप्ति, आदिपुराण, हरिवंशपुराण जैसे प्रामाणिक ग्रंथों और नंदिसंघकी पट्टावलियोंसे इसका पूर्ण समर्थन होता है कि वीर भगवानके ६८३ वर्ष बाद तक स्वयं ज्ञानियोंका अस्तित्व रहा ।

विगतमें थोड़ा बहुत अन्तर अवश्य है । परन्तु इन आचार्यवरका समय निश्चय करनेके लिये विगतमें जानेकी आवश्यकता नहीं है ।

वीरात् ६८३ अथवा विक्रम सं० २१३ के बाद अंग पूर्वके कुछ अंशोंके ज्ञाता विनयधर, श्रीदत्त. शिवदत्त और अर्हदत्त यह चार आरातीय मुनि हुये और इनके बाद स्वामी अर्हद्बलि और माघनंदिने धर्मामृतकी वृष्टिसे भारतभूमिका सिंचन किया ।

स्वामी अर्हद्बलिने काल स्वभावसे रागद्वेष उत्पन्न होजानेकी आशंका करके उपस्थित मुनिसंघको नंदि, सेन, सिंह और देव ऐसे चार संघोंमें विभक्त कर दिया । परन्तु इन विभिन्न संघोंके मुनियों और आचार्योंमें किसी धार्मिक आचार या तात्विक सिद्धांत विषयक कोई भेद नहीं था । अतः दिगम्बराम्नाय पहिलेसे जैसी शुद्ध थी, इस विभक्तिके बाद भी वैसी ही शुद्ध और विशिष्ट रही ।

उसी समयके लगभग श्रीधरसेन और गुणधर आचार्य भी विद्यमान थे, जिन्हें क्रमशः आग्रायणी पूर्वान्तर्गत पंचम वस्तुके चतुर्थ कर्म प्राभृतका और ज्ञानप्रवाद पूर्वान्तर्गत दशम वस्तुके तृतीय कषाय प्राभृतका पूर्ण बोध था ।

श्रीधरसेनाचार्यने अपनी शेष आयु अल्प जानकर इस दीर्घदृष्टिसे कि उनके बाद कर्मप्राभृत श्रुतका व्युच्छेद न होजाय, स्वामी अर्हद्बलिके तीक्ष्ण बुद्धि दो विद्वान शिष्यों भूतबलि और पुष्पदंतको वेणाकतटके मुनिसंघसे बुलाया और व्याख्या करके कर्मप्राभृतकी उन्हें भले प्रकार शिक्षा दी । जिन्होंने कर्मप्राभृत श्रुतको संक्षिप्त करके जीवस्थान, क्षुल्लकबंध, बंधस्वामित्व, भाववेदना, कर्मवर्गणा और महाबंध नामसे

छः खंडोंमें लिपिबद्ध किया। इसी हेतुसे वह बृहद् सिद्धान्त शास्त्र षट्खण्डागम नामसे प्रसिद्ध है।

गुणधर आचार्यने भी स्वयं कषायप्राभृतको गाथा सूत्रोंमें ग्रथित करके नागहस्ति आर्यमंक्षु मुनियोंको अध्ययन करा दिया, जिनसे यतिवृषभने इन सूत्र गाथाओंको पढ़कर उन पर छः हजार श्लोक परिमाण चूर्णि सूत्र रचे और उच्चारणाचार्य अपर नाम उद्धरणाचार्यने १२ हजार श्लोक परिमाण वृत्तिसूत्र लिखे।

इस प्रकार स्वनामधन्य गुणधर, यतिवृषभ, उच्चारण इन तीन आचार्यों द्वारा कषायप्राभृत उपसंहृत हुआ।

यह स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता कि वि० सं० २१३ के कितने समय बाद तक आरातीय मुनियोंका अस्तित्व रहा, परन्तु इस हेतुसे कि वे भी पूर्वपदांशवेदी थे, उनका समय भी अंग ज्ञानियोंके समयके अंतर्गत ही मान लेनेमें कोई अत्युक्ति नहीं होगी। अतः आरातीय मुनियोंका अस्तित्व भी वि० सं० २१३ तक ही रहा।

इसके बाद होनेवाले अर्हद्बलि और माघनन्दिका आचार्य काल भी कहीं नहीं दिया है। हां, नन्दिसंघकी पट्टावलिसे माघनन्दिके विषयमें यह अवश्य जान पड़ता है कि वे नन्दिसंघके ४ वर्षतक प्रथम अनुशासक रहे।

इस ४ वर्षकी गणना संभवतः वीरात् सम्वत ६८३ तथा वि० सं० २१३ के बाद कीगई है। जिसका स्पष्ट अर्थ यह होता है कि माघनन्दि आचार्य वि० सं० २१७ में दिवंगत हुये।

यह बात भी कहीं व्यक्त नहीं कीगई है कि महाशास्त्रोंकी

रचना कबसे आरम्भ हुई और इसमें कितना समय लगा ।

चूंकि अंग ज्ञानियों और पूर्व पदांश वेदियोंका समय २१३ वि० सं० तक था । अतः श्रीधरसेनको उनकी स्वर्ग प्राप्तिके बाद ही श्रुतव्युच्छेदकी आशंका हो सकती थी, इस हेतुसे यह मान लेना पड़ता है कि महान शास्त्रोंकी रचना श्री माघनन्दिस्वामीके स्वर्गारोहणके बाद अर्थात् वि० सं० २१७ के लगभग आरम्भ हुई ।

कर्मसिद्धान्तके अध्ययन कराने, छः खण्डोंमें व्यवस्थित करने, फिर लिपिबद्ध होने आदिमें और कषायप्राभृतको गाथासूत्रोंमें ग्रंथित करने, उसपर चूर्णिसूत्र और वृत्ति आदि रचनेमें कमसे कम २० वर्ष अवश्य लगे होंगे । इतना समय इस महान कार्यके सम्पादनके लिये अनुमान कर लेना कुछ अधिक नहीं है। अतः इस मान्यताके अनुसार इन महान् शास्त्रोंका प्रणयन लगभग वि० सं० २३७ तक समाप्त हुआ ।

शास्त्रोंमें यह उल्लेख मिलता है कि हमारे चरित्रनायकने इन सिद्धान्त-शास्त्रोंका गुरु परिपाटीसे बोध प्राप्त किया था। गुरु परिपाटीका अर्थ यही होसकता है कि जिस प्रकार कोई विद्यार्थी गुरुसे शिक्षा प्राप्त करता है उसी पद्धतिसे इन आचार्यवरने भी अपने गुरुसे इन शास्त्रोंका अध्ययन किया था, स्वयं स्वाध्याय द्वारा नहीं ।

इसका अर्थ यह हुआ कि इन आचार्यवरने जब इन महान शास्त्रोंका बोध लाभ किया था तब इनके गुरु कुमारनंदि सिद्धांतदेव (सिद्धान्तशास्त्रके मर्मज्ञ) जीवित थे और हमारे मुनिश्री आचार्य पदपर आसन्न नहीं हुये थे।

इन महान शास्त्रोंकी हस्तलिखित प्रतिलिपि प्राप्त करने और

अपने गुरुसे अध्ययन करनेमें आचार्यवरको १०–११ वर्ष लग जाना साधारणसी बात है । तात्पर्य यह है कि वि० सं० २४८ तक ही हमारे चरित्रनायकने अपने गुरुसे शिक्षा प्राप्त की और तभी गुरुवर्यकी यह लोकयात्रा समाप्त होनेपर उनके रिक्त पदकी इन्होंने पूर्ति की । उस समय पट्टावलिके अनुसार इनकी आयु ४४ वर्ष थी ।

उसी पट्टावलिके आधारपर इनका आचार्यकाल ५२ वर्ष (५१ वर्ष १० मास १० दिन) निर्विवाद माना जाता है । अतः हमारे चरित्रनायकका वि० सं० २४८+५२=३०० में दिवंगत होना निश्चय होता है । " विद्वज्जन बोधक " में इनके उत्तराधिकारी उमास्वामीके समयवर्णनका प्रसिद्ध श्लोक उद्धृत किया है—

वर्षे सप्तशते चैव, सप्तत्या च विस्मृतौ ।
उमास्वामिमुनिर्जातः, कुन्दकुन्दस्तथैव च ॥

अर्थात् वीर स्वामीके निर्वाणसे ७७० वर्ष पीछे उमास्वामी मुनि हुये और कुन्दकुन्द स्वामीका भी यही समय है ।

यद्यपि यह निश्चय नहीं है कि इस श्लोकका कर्ता कौन है और किस आधारपर उसने यह कथन किया है, और न यही कि विद्वज्जन बोधकमें यह श्लोक कहांसे उद्धृत किया गया है तो भी इसका कथन निर्विवाद ही जान पड़ता है ।

संभवतः प्रकरणकी अपेक्षासे " मुनिर्जातः " पदोंका अर्थ उमास्वामीके आचार्य पद प्राप्त करनेसे है न कि मुनिदीक्षा लेनेसे । वि० सं० ३०० ही ऐसा संधि वर्ष था जब उसके आरम्भमें कुन्दकुन्द आचार्य भी जीवित थे, और अन्तमें उनके दिवंगत होजाने पर

उमास्वामी साधारण मुनि अवस्थासे आचार्यपदपर अभिषिक्त हुये ।

देवसेनसूरिकृत दर्शनसारके अनुसार श्वेताम्बर संघकी उत्पत्ति वि० सं० १३६ में हुई थी और इन आचार्यवरका जन्म वि. सं. (३०० स्वर्गवास—९६ वर्ष आयु,) २०४ में हुआ, जबकि अंगज्ञानियों और पूर्व पदांश वेदियोंका समय समाप्त होरहा था। श्वेताम्बर कथानकोंमें दिगम्बराम्नायकी उत्पत्ति वि० सं० १३९ में बताई जाती है, जिससे जान पड़ता है कि विक्रम सम्वत १३६ या १३९ तक मुनिसंघमें कुछ आचार सम्बन्धी शिथिलता ही चल रही थी जिसका आरम्भ भद्रबाहु श्रुतकेवलीके समय १२ वर्षीय दुष्कालसे होगया था, परन्तु प्रथक् रूपसे किसी और संघकी स्थापना नहीं हुई थी । न निर्ग्रंथ मुनियोंमें सिद्धान्त विषयक कोई विशेष भेद उपस्थित हुआ था । अनुमानतः शिथिलाचारी मुनियोंने अपनी लोकाविज्ञाको मिटानेके लिये अपने जनसमुदायको वि० सं० १३६ या १३९ में एक पृथक् संघके रूपमें संगठित किया और तत्पश्चात् उन्होंने उपस्थित जिनेन्द्र प्रणीत सिद्धान्तको स्वानुकूल परिवर्तित करके स्वतंत्ररूपसे शास्त्रोंकी रचनाका प्रबंध किया।

श्री कुन्दकुंदस्वामीने स्वरचित सूत्रपाहुड़में सग्रंथ मुनियों और स्त्रियोंके मुक्तिलाभ करनेके सिद्धांतका घोर विरोध किया है, जिससे जान पड़ता है कि श्वेताम्बराम्नायके सिद्धांत शास्त्रोंकी रचना भी उस समय तक होचुकी थी और इस नवजात संप्रदायमें ऐसे सिद्धान्तवेदी आचार्य भी उत्पन्न होने लगे थे. जो कुन्दकुन्द जैसे प्रकाण्ड सिद्धांत ज्ञाता और प्रखर विद्वानाचार्यसे शास्त्रार्थकी टक्कर लेनेको

कटिबद्ध रहते थे। यह दूसरी बात है कि वे शास्त्रार्थमें प्रसिद्ध आख्यायिकाके अनुसार आचार्यवरसे परास्त हुये।

किसी नवीन स्थापित संघके इतने उत्कर्षपर पहुंचनेमें १००–१५० वर्षका समय अनुमान करना कुछ अधिक नहीं है। अतः इससे भी श्री कुंदकुंदाचार्यके अनुमानित समयका समर्थन होता है।

मर्कराताम्र पत्रमें जो शा० स० ३८८ (वि० सं० ४२३) का लिखा हुआ है, कुन्दकुन्दान्वयी गुणचन्द्रकी पांच पीढियोंका क्रमशः उल्लेख है जिनका समय कमसे कम सौ सवासौ वर्ष निस्संदेह माना जासकता है।

इन सब उक्तियों, युक्तियों और साक्षियोंके आधारपर हमारे चरित्रनायक स्वामी कुन्दकुन्दाचार्यका जीवन समय वि० सं० २०४ से ३०० तक सिद्ध होता है।

विदेह गमन।

जैनजगतमें इन आचार्यवरकी विदेह यात्राकी कथा अविरोध रूपसे प्रचलित है। कहते हैं कि इनके ध्यानकी स्थिरता और मनकी निश्चलता बहुत उच्च कोटिकी थी। एकवार जब इन्हें किसी सैद्धान्तिक विषय पर शंका उत्पन्न हुई और बहुत विचार करनेपर भी स्वयं उसका निरसन न कर सके तो उन्होंने ध्यानमग्न होकर तन्मयतासे विदेह क्षेत्रमें विद्यमान तीर्थंकर श्री सीमंदरस्वामीको मन, वचन, कायकी शुद्धिपूर्वक नमस्कार किया। इनके मनोबल और तपस्तेजके प्रभावसे समोशरणमें विराजमान तीर्थंकर भगवानने इनके प्रणामको स्वीकार

करते हुये "सद्धर्मवृद्धिरस्तु" कहकर आशीर्वाद प्रदान किया। उपस्थित जनतामें इस रहस्यको कोई नहीं समझ सका कि जब किसीने साक्षात होकर भगवानको नमस्कार नहीं किया तो आशीर्वाद किसको दिया गया और क्यों ?

जनसाधारणकी इस शंकाके निवारणार्थ भगवानने बताया कि भरतक्षेत्रमें रहनेवाले दुर्द्धर तपस्वी कुन्दकुन्द मुनिने ध्यानस्थ होकर नमस्कार किया है उन्हींको यह आशीर्वाद दिया गया है। इस घटनासे उपस्थित जनसाधारण पर आचार्यवरके आदर्श तपोबल और ध्यान-मग्नताका आश्चर्यकारी प्रभाव पड़ा ।

उस वृहद् सभामें इन आचार्यवरके पूर्वजन्मके दो चारण ऋषि-धारी मित्र प्रेमवश भरतक्षेत्र आकर इन्हें विदेहक्षेत्र लिवा ले गये, और समोशरणमें लेजाकर भगवानके साक्षात् दर्शन करा दिये । जब आचार्यवरकी समस्त शंकाओंका पूर्णतः समाधान होगया तो इनकी इच्छानुसार इनको उन्हीं दोनों मित्रोंने भरतक्षेत्र लाकर इनके नियत स्थानपर पहुंचा दिया ।

अनुमानतः तीर्थंकर भगवान्‌के साक्षात् दर्शन करने और उनका तत्त्वोपदेश श्रवण करनेसे ही आचार्यवरको ऐसी मानसिक शक्ति प्राप्त होगई थी कि इसके बाद जब गिरनार पर्वत पर श्वेताम्बर विद्वानाचार्योंसे शास्त्रार्थ हुआ तो अन्तमें स्थानीय ब्राह्मीदेवीने स्वयं प्रकट होकर यह कह दिया कि दिगम्बरी मार्ग ही सच्चा और कल्याणकारी है ।

भरतक्षेत्रके किसी भूमिगोचरी मनुष्यकी विदेहक्षेत्रकी यात्राका

वर्णन सहसा विश्वसनीय नहीं है । मार्गवर्ती ऊंचे २ पर्वतों और गहरे २ समुद्रोंको पार करना पैदल तो क्या वायुयानके द्वारा भी असंभव और अप्राकृतिक है, परन्तु आचार्यवरकी विदेहक्षेत्र गमनकी कथा ऐसी निरी कपोलकल्पित भी नहीं जान पड़ती, जिसपर साधारण बुद्धिके मनुष्योंने ही अंध भक्तिसे योंही विश्वास कर लिया हो, और बालक बहलावनी कहानियोंकी भांति वैसे ही रट रक्खा हो । बल्कि आजसे हजार वर्ष पूर्व और उससे पीछेके विद्वान आचार्यों और सुविज्ञ शास्त्रकारोंने भी इसकी वास्तविकताको विना संकोच और आपत्तिके स्वीकार किया है ।

श्री देवसेनसूरि दिगम्बराचार्यने दर्शनसारमें, जिसे उन्होंने वि० सं० ९९० में रचा था, आचार्यवरकी सिद्धान्त सम्बन्धी अपूर्व मर्मज्ञताका यही कारण वर्णन किया है कि उन्होंने विदेहक्षेत्रमें विद्यमान तीर्थंकर श्री सीमन्दरस्वामीके समोशरणमें जाकर उनका साक्षात् उपदेश सुननेका सौभाग्य प्राप्त किया था ।

तत्पश्चात् श्री जयसेनाचार्यने विक्रमकी १४ वीं शताब्दिमें पञ्चास्तिकायकी टीकाके आरम्भमें स्पष्ट लिखा है कि इस प्राभृतके मूल कर्ता (कुन्दकुन्दस्वामी) पूर्व विदेह गये और वहां श्री सीमंदर भगवानसे तत्वज्ञान प्राप्त किया ।

उन शिलालेखोंमें, जो विक्रमकी १२ वीं शताब्दिसे कई सौ वर्ष बादतक संहृत किये गये, आचार्यवरके विदेहगमनका उल्लेख तो नहीं है; परन्तु उनमें यह अवश्य वर्णित किया गया है कि इन आचार्यवरको चारणऋद्धि प्राप्त थी—

तस्यन्वये भूविदिते बभूव यः, पद्मनन्दि प्रथमाभिधानः ।
श्री कौण्डकुन्दादिमुनीश्वराख्यः, सत्संयमादुद्गतचारणार्द्धिः ॥
शि० ले० नं० ४० ॥

श्री पद्मनन्दीस्य न बद्यनामा ह्याचार्यशब्दोत्तरकौण्डकुन्दः ।
द्वितीयमासीदभिधानमुद्यचारित्रसंजातसुचारणार्द्धिः ॥शि.४२॥

इन लेखोंसे स्पष्ट विदित है कि आचार्यवर तात्कालिक भाषाके प्रांजल विद्वान, सिद्धान्त शास्त्रके पारंगत, सम्यक श्रद्धानी, पूर्ण सयंमी, दुर्द्धर तपस्वी, प्रथमाभिधानी और चारणऋद्धि (आकाशगामिनी विद्या) के धारी थे ।

वि० सं० ११८१ के श्रवणवेलगुल शिलालेखमें भी यह लिखा है कि श्री कुन्दकुन्दस्वामी चारणाचार्योंके करकमलोंकी मधुमक्षिका थे, जिसका सरल अर्थ यह है कि यह चारणऋद्धिधारियोंकी संगतिमें अधिक रहते थे, और यह तभी संभव है कि जब वह स्वयं भी चारणऋधारी हों, अतः यह निश्चित है कि वे स्वयं आकाशगामी थे।

पट्खण्डागम एवं चूर्णिका और वृत्ति सहित कषायप्राभृतका अध्ययन करना और विदेहक्षेत्रमें विद्यमान तीर्थंकरसे ज्ञान प्राप्त करना इन आचार्यवरकी सुविज्ञता, सुयोग्यता और सच्चारित्रताके कारण उल्लिखित किये गये हैं, सो ठीक ही है । वर्तमान पौद्गलिक विज्ञानके युगमें आत्मबल द्वारा आश्चर्यकारी ऋद्धियोंके चमत्कारोंको कोई भले ही असंभव समझे, किन्तु आध्यात्मिक विज्ञानके उत्कर्ष समयमें ऐसी असाधारण घटनाओंकी वास्तविकता तनिक भी अविश्वसनीय नहीं समझी जाती थी । चारणऋद्धि जैसी असाधारण शक्तिके प्राप्त होजाने

पर विदेहक्षेत्रकी दुर्गम यात्रा कर लेना एक साधारण कार्य ही है। ऐसे ऋद्धिधारियोंके लिये सुदूरवर्ती क्षेत्रोंमें स्वयं या किसी आकाशगामी व्यक्तिके साथ जानेके लिये मार्गकी विषमता और दुर्गमता तनिक भी बाधक नहीं होती।

ग्रन्थ निर्माण।

हमारे चरित्रनायक आचार्यने अद्वितीय रूपसे जैन धर्मका सर्वत्र प्रचार किया था। ५२ वर्षके दीर्घ आचार्यकालमें धर्मध्यान और संयम पालनके अतिरिक्त सिद्धान्त एवं आचार सम्बन्धी कितनी ही महत्त्वपूर्ण रचनायें कीं। यद्यपि किसी प्रतिमें उसके रचयिताका नामोल्लेख नहीं है, तो भी यह प्रसिद्ध है कि कर्मप्राभृत (षट्खण्डागम) के प्रथम तीन खण्डोंकी १२ हजार श्लोक परिमाण "परिकर्म" नामक टीका लिखी। मुनियोंके आचार सम्बन्धी "मूलाचार" शास्त्रका प्रणयन किया। "दशभक्ति संग्रह" की रचना की, और इनके अतिरिक्त बारस अणुवेक्खा (द्वादश अनुप्रेक्षा) तथा ८४ प्राभृतोंका निर्माण किया।

इन ८४ प्राभृतोंके अध्ययनकी तो बात ही क्या, हमारे दुर्भाग्य और प्रमादसे अब उनमेंसे बहुतसोंका तो अस्तित्व भी नष्ट होचुका है। इस समय केवल निम्नोलिखित प्राभृत ही प्राप्य हैं—

(१) समयसार, (२) पञ्चास्तिकाय, (३) प्रवचनसार, (४) दर्शनप्राभृत, (५) सूत्र प्राभृत, (६) चारित्र प्राभृत, (७) बोध प्राभृत, (८) भाव प्राभृत, (९ मोक्ष प्राभृत, (१०) लिंग प्राभृत, (११) शील प्राभृत, (१२) रयणसार, (१३) नियमसार।

इनके अतिरिक्त कुछ विद्वानोंका विचार है कि तामिल भाषामें कुरल नामक शास्त्रकी रचना भी इन्होंने की, प्रत्युत कुछ तत्वान्वेषी विद्वानोंको इसमें संदेह है कि १–कुरल, २–परिकर्म, ३–दशभक्ति-संग्रह और ४–मूलाचारके प्रणेता यह आचार्यवर थे। अतः इसका अनुसंधान करना अत्यावश्यक प्रतीत होता है।

कुरल ।

किसी प्रचलित आख्यायिकाके आधारपर यत्र तत्र ऐसा लिखा मिलता है कि दक्षिण मलायाके हेमग्राममें द्राविड़ संघाधीश एलाचार्य एक प्रसिद्ध विद्वान जैन मुनि थे। उन्होंने तामिल भाषामें थिरुक् कुरल (प्रसिद्ध कुरल) नामक ग्रंथ रचकर अपने शिष्य थिरुवुल्लु-वरको दिया, जिसने उसे मदुरा संघ (एक वृहद् कविसभा) में स्वकृतिके रूपमें प्रस्तुत किया।

द्राविड़देशीय होनेके कारण इन्हीं आचार्यवरको द्राविड़ संघा-ध्यक्ष मानकर कुरल कर्ता एलाचार्य प्रसिद्ध किया जाता है। इस आख्यायिकाकी यथार्थता वहुत ही अविश्वसनीय है। क्योंकि यदि थिरु वुल्लुवर ऐसे साधारण ग्रन्थकी स्वयं रचना करनेके अयोग्य थे तो उनके गुरु कविसम्मेलनमें प्रस्तुत करनेके लिये उन्हें अपनी रचना नहीं दे सकते थे और न वह इसे विद्वत्समाजके समक्ष प्रस्तुत करनेका साहस कर सकते थे, न उन्हें इतना असभ्य और कृतघ्न समझा जा सकता है कि वह अपने गुरुकी कृतिको अपनी रचनाके रूपमें प्रस्तुत करते। यदि वह ऐसा ग्रन्थ स्वयं निर्माण करनेके योग्य थे तो उन्होंने

ही स्वयं इसे रचकर कवि सम्मेलनमें प्रस्तुत किया होगा। अतः इस ग्रन्थको एलाचार्य कृत कहना ही भ्रमात्मक है।

यदि यह भी मान लिया जाय कि इस ग्रन्थके रचयिता एला-चार्य ही थे तो इस नामके आचार्य एक दूसरे ही विद्वान हैं। हमारे चरित्रनायक न तो द्राविड़ संघके अध्यक्ष थे और न उनका अपरनाम एलाचार्य था, जैसा पहले सिद्ध किया जा चुका है। अतः कुरल प्रणेता कुन्दकुन्द आचार्य नहीं थे।

इसके अतिरिक्त धवलाटीका जो शा० सं० ७३८ (वि० सं० ८७३) में समाप्त हुई, उसकी प्रशस्तिमें उसके रचयिता श्री वीरसेनाचार्यने एलाचार्यको अपना गुरु निर्दिष्ट किया है, जिससे जान पड़ता है कि एलाचार्य विक्रमकी नवीं शताब्दिके विद्वान थे। यदि यह एलाचार्य कुरलके कर्ता थे तो कुरलका रचना समय भी विक्रमकी ९ वीं शताब्दि ही होसकता है। अतः यह ग्रंथ विक्रमकी तीसरी शताब्दिमें होनेवाले कुन्दकुन्दाचार्यकी कृति नहीं होसकती।

परिकर्म।

इन्द्रनन्दि कृत श्रुतावतारमें षट्खंडागमादि आद्य महाशास्त्रोंके प्रणयनका वर्णन करते हुये लिखा है कि जब दोनों ग्रंथ पूर्णतः संहृत होगये तो गुरुपरिपाटीसे कुन्दकुन्दस्वामीने इनका अध्ययन किया, और षट्खंडागमके आदि तीन खंडोंकी १२ हजार श्लोक परिमाण परिकर्म नामक टीका लिखी।

विबुध श्रीधरने स्वरचित पञ्चाधिकार शास्त्रके श्रुतावतार नामक

चतुर्थ परिच्छेदमें यह लिखकर इस विषयको संदिग्ध कर दिया है कि कुन्दकीर्तिने कुन्दकुन्दाचार्यसे द्विविध शास्त्रोंका अध्ययन करके षट्खंडागमके प्रथम तीनखण्डोंकी १२ हजार श्लोक परिमाण टीका निर्माण की।

यह ठीक है कि धवलादि महती टीकाओंमें परिकर्म नामक टीकाका या टीकाकारका कोई उल्लेख नहीं है, न किसी और शास्त्र या शिलालेखमें इसका व्योरा मिलता है। परन्तु इसका कारण संभवतः इस ग्रन्थका लुप्त होजाना या शास्त्रकारों और शिलालेखकोंका इससे अपरिचित होना ही होसकता है। जब दोनों श्रुतावतारोंसे इस टीकाका संपादित होना सिद्ध होता है और विरोधात्मक कोई प्रमाण है नहीं तो यह निस्संदेह मान लेना चाहिये कि परिकर्म नामक टीका लिखी तो अवश्य गई, केवल साध्य विषय यह रह जाता है कि वह टीका श्री कुन्दकुंदाचार्यने लिखी जैसा इन्द्रनन्दि कहते हैं या विबुध श्रीधरके कथनानुसार उनके शिष्य कुन्दकीर्तिने। निस्संदेह कुंदकुंदस्वामी एक प्रौढ़ विद्वान, गम्भीर विचारशील, स्पष्टवक्ता और ओजस्वी लेखक थे। उनकी उपलब्ध रचनाओंमें उस तर्कशैली और प्रतिवादक आवेशका अभाव है, जो समंतभद्र, पूज्यपाद, सिद्धसेनादि टीकाकारोंकी भावुक कृतियोंमें देखनेमें आता है। परन्तु यह कोई प्रमाण इस बातका नहीं होसकता है कि परिकर्म भाष्यके कर्ता यह आचार्यवर नहीं थे, इनके शिष्य कुंदकीर्ति ही थे।

प्रत्येक टीकाकारकी वर्णनशैली और विवेचन कला समान नहीं होती। अमृतचंद्रसूरि, जयसेनाचार्य जैसे गम्भीर विद्वान और सरल लेखक प्रसिद्ध टीकाकार हुये हैं और समन्तभद्रादि तार्किक विद्वान स्वतंत्र ग्रंथकार भी थे।

कुंदकुन्दस्वामी जैसे सिद्धान्तके मर्मज्ञ विद्वान ही उस महा-ग्रन्थकी इतनी विस्तृत व्याख्या लिखनेको समर्थ होसकते थे न कि उनके एक साधारण शिष्य जिनका आजतक भी कोई नाम नहीं जानता। यदि कुंदकीर्तिने वास्तवमें यह टीका लिखी होती तो वह आचार्य मण्डल और शास्त्रकारोंकी सूचीमें अवश्य कोई सुप्रसिद्ध और गण्य व्यक्ति होते। परन्तु हम देखते हैं कि किसी शास्त्र, किसी शिलालेख या पट्टावलिमें इनका नामोल्लेख तक नहीं मिलता। अतः इन्द्रनंदिके कथनानुसार यही मानना अधिक युक्तिसंगत है कि परि-कर्म नामक व्याख्याके रचयिता हमारे चरित्रनायक ही थे।

खेद है कि इनकी यह सद्कृति काल दोषसे या हमारे प्रमा-दसे आज प्राप्त नहीं है। इसलिये इस विषयमें कोई तुलनात्मक, अनुसंधान नहीं किया जासकता।

दशभक्ति संग्रह।

इस रचनामें तित्थेयरभत्ती, सिद्धभत्ती, सुदंभत्ती, चारित्तभत्ती, अणागारभत्ती, आयरियभत्ती, निव्वाणभत्ती, पञ्चपरमेट्ठीभत्ती, णंदीसरभत्ती और शान्तिभत्तीका संग्रह है।

इस भक्ति संग्रहकी रचना इस प्रकार उपलब्ध है कि पहिले प्राकृत गाथायें हैं। फिर उनके अनुवादरूप संस्कृत श्लोक हैं, और अन्तमें प्राकृत भाषाकी गद्य दी हुई है, जिसमें प्रतिक्रमण और आलो-चनाका वर्णन है।

इस समय नंदीश्वर भक्ति और शान्तिभक्तिकी प्राकृत गाथायें

प्राप्त नहीं हैं जो होनी अवश्य चाहिये । क्योंकि तभी दशकी संख्या पूरी हो सकती है ।

प्राकृत गद्य और पद्यकी विचारपूर्वक तुलना करनेसे यह स्पष्ट जान पड़ता है कि इन दोनोंका कर्ता कोई एक विद्वान नहीं है ।

इनमेंसे सिद्धभक्तिकी क्रिया—कलाप नामक टीकाके निर्माता श्री प्रभाचन्द्राचार्यने लिखा है कि इन भक्तियोंको प्राकृत भाषामें श्री कुन्दकुन्दाचार्यने और संस्कृत भाषामें श्री पूज्यपादस्वामीने निर्माण किया । इस धारणा या निश्चयका कोई सप्रमाण विरोध नहीं है ।

इन भक्तियोंकी अंतिम गद्य श्वेताम्बरीय प्रतिक्रमण और आवश्यक सूत्रोंसे बहुत कुछ मिलती जुलती है, और तीर्थंकरभक्ति दिगम्बरी तथा श्वेताम्बरी दोनों सम्प्रदायोंमें समानरूपसे मान्य है ।

अनागार भक्तिमें साधुके गुणोंकी गणना उसी प्रकार दी है जैसी श्वेताम्बरी सिद्धान्तके थानांग और सम्वायांग शास्त्रमें दे रक्खी है।

निर्वाण भक्तिके अन्तमें कार्तिक कृष्णा चतुर्दशीकी रात्रिके अन्तमें सूर्योदयसे कुछ पूर्व स्वांति नक्षत्रके समय भगवान महावीरका निर्वाण होना लिखा है, जब कि चतुर्थकालमें ३ वर्ष ३ मास १५ दिन शेष रहे थे, ऐसी ही श्वेताम्बर मान्यता है ।

इस साम्यपर विचार करनेसे यह अनुमान होता है कि गद्य भागकी रचना जिन धर्मानुयायियोंमें दिगम्बर और श्वेताम्बर नामक संघभेद होनेसे पूर्व किसी समय हुई थी ।

हस्तलिखित प्रतियोंमें गाथा संख्या न्यूनाधिक भी पाई जाती है और किसी किसीके अन्तमें नमस्कार मंत्र, मंगलसूत्र, लोकोत्तमसूत्र,

शरणसूत्र और सामायक स्तोत्र भी लिखे हुये मिलते हैं, परन्तु इस सांख्यक अंतर और सूत्र वृद्धिसे प्रभाचंद्राचार्यका कर्ता विषयक कथन संदिग्ध या अविश्वसनीय नहीं कहा जा सकता।

भाषा शैली और अर्थपूर्णतापर विचार करनेसे यह निस्संदेह मान लिया जा सकता है कि इन भक्तियोंके प्राकृत पद्य भागके कर्ता अवश्य श्री कुन्दकुन्द आचार्य हैं जिन्होंने किसी अपने समकालीन या पूर्वगत आचार्यके रचे हुये गद्य भागकी व्याख्या करते हुये प्रकरण-वश यथोचित परिवर्धन करके उन्हें गाथाबद्ध भक्तियां।

मूलाचार।

प्रसिद्ध आख्यायिका तो विद्वज्जगत्में यह है कि यह ग्रंथ स्वामी कुन्दकुन्द कृत है और दक्षिण भारतकी कई हस्तलिखित प्रतियोंमें भी इस ग्रन्थके रचयिता स्वामी कुन्दकुन्द ही उल्लिखित हैं परन्तु इस ग्रन्थके टीकाकार श्री वसुनन्दि आचार्यने वट्टकेरको इस ग्रन्थका कर्ता व्यक्त किया है। उनकी इस धारणाका क्या आधार था यह नहीं बताया, न उन्होंने वट्टकेरका कोई विशेष परिचय दिया कि वे कौन थे, कब और किस गुरुकी परम्परामें हुये, न इस ग्रन्थकी किसी हस्तलिखित प्रतिसे या किसी अन्य शास्त्र अथवा किसी शिला-लेखसे वट्टकेर नामसे किसी शास्त्रकारका उल्लेख मिलता है और न इनका रचित कोई शास्त्र ही उपलब्ध है जिससे इस ग्रन्थकी वर्णन-शैली, भावुक-विवेचना तथा सैद्धांतिक मर्मज्ञताकी तुलना की जा सके।

सुतरां इस शास्त्रकी भाषाशैली, विषयमौलिकता और मार्मिक विवेचना स्वामी कुन्दकुन्दाचार्य कृत प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, नियम-

सार आदिके सदृश्य ही उच्च कोटिकी है, जिससे इनके इस ग्रन्थके कर्ता होनेकी आख्यायिकाका पूर्ण समर्थन होता है।

द्रव्यानुयोग और चरणानुयोग सम्बन्धी सिद्धांतपर एकाधिपत्य होनेके कारण स्वामी कुन्दकुन्दने अपनी प्रत्येक रचनामें प्रत्येक आवश्यक विषयका थोड़ा बहुत कथन किया है। इसी पद्धतिके अनुसार इन्होंने प्रवचनसारमें भी मुनियोंके आचार सम्बंधमें प्रकरणवश कुछ संक्षेपमें वर्णन कर दिया है, परन्तु फिर भी यह देखकर कि इन्होंने प्रत्येक विषयपर भिन्न रूपसे स्पष्ट रचना की है यह कैसे कहा जा सकता है कि इन्होंने आचारांग पद्धतिके अनुसार मुनिधर्म जैसे परमावश्यक विषयका स्वतंत्ररूपसे निरूपण न किया हो। नहीं, अवश्य किया और वह मूलाचार ग्रन्थ ही है।

बारस अणुवेक्खाके मंगलाचरणकी गाथा १ कुछ परिवर्तनके साथ और गाथा २ ज्योंकी त्यों मूलाचारके आठवें अधिकारके मंगलाचरणकी गाथा ६९१ और ६९२ हैं। और बारस अणुवेक्खाकी गाथा नं० २. १४, २२, २३, ३५, ३६, ४७ पूर्वार्ध, मूलाचारमें गाथा नं० ४०३, ६९९ (कुछ परिवर्तित) ७०१, ७०२, २२६; ७०९ और २३७ (पूर्वार्ध) ज्योंकी त्यों हैं।

नियमसारकी गाथा नं० ६९, ७०, ९९, १००, १०२, १०३, १०४ मूलाचारकी गाथा ३३२, ३३३, ४५, ४६, ४८, ३९, ४२ ज्योंकी त्यों हैं। और नियमसारकी गाथा २. ६२, ६५ कुछ पाठभेदसे मूलाचारकी गाथा २०२, १२, १५ हैं।

पञ्चास्तिकायकी गाथा ७५, १४८, बोधपाहुड़की गाथा ३३, ३४, चारित्र पाहुड़की गाथा ९, समयसारकी गाथा १३, १५०

मूलाचारकी क्रमशः गाथा नं० २३१, ९६६, ११९७, ११९१; २०१, २०३, २४७ हैं। लिंग पाहुड़के मंगलाचरणका पूर्वार्ध मूलाचारके षटावश्यक अधिकारके मंगलाचरणका पूर्वार्ध है।

इसी प्रकार श्री कुंदकुन्दाचार्य कृत प्राभृतोंकी और भी अनेक गाथायें (समूची, पूर्वार्ध, उत्तरार्ध, एकपाद) तदनुरूप या कुछ सामान्य पाठभेद या शाब्दिक परिवर्तनके साथ मूलाचारमें पाई जाती हैं।

इस ग्रन्थकी भाषा और मार्मिकता श्री कुंदकुंदस्वामीकी अन्य रचनाओंके साथ ऐसी समानता रखती है कि इस ग्रंथके स्वाध्यायसे यह संदेह भी कहीं उत्पन्न नहीं होता है कि इसमें किसी अन्य ग्रन्थकारकी कोई गाथा क्षेपक या उक्तंच रूपसे लिख दीगई है।

अतः इस तुलनात्मक दृष्टिसे अनुसंधान करनेपर यही निश्चय होता है कि—'बारस अणुवेक्खा' और अन्य प्राभृतोंके कर्ता (कुंदकुन्दाचार्य) ही मूलाचार ग्रंथके रचयिता हैं।

यदि इस ग्रंथके कर्ता कुन्दकुन्दाचार्यसे भिन्न कोई व्यक्ति हैं तो वह समान योग्यताके विद्वान, कवि और मर्मज्ञ होने चाहिये। फिर यह समझना कठिन है कि मूलाचारके कर्ता जो इतने विशाल और गूढ़ ग्रन्थकी रचना करनेको समर्थ थे, मंगलाचरणकी गाथायें भी दूसरे ग्रंथोंसे उठाकर क्यों रख देते? क्या उसी भाव और आशयकी दश वीस गाथायें स्वयं नहीं लिख सकते थे?

यदि उन्होंने किसी कारणवश ऐसा किया भी था तो अन्य आचार्य कृत गाथाओंको प्रमाणवाक्यके रूपमें उद्धृत करते। कर्ताका नामोल्लेख किये विना स्वरचित पद्यके रूपमें एक कविके पद्यको चुराकर इस

भांति अपनाना एक तीव्र पाप है और मूलाचार जैसे अपूर्व ग्रन्थका सुयोग्यकर्त्ता इतना बड़ा अपराध कभी नहीं कर सकता था।

यदि मूलाचारके कर्ताने ऐसा किया था तो कुन्दकुन्दचार्यकी कृतियोंसे ही गाथायें क्यों चुराई? अन्य किसी आचार्यकी एक गाथा भी मूलाचारमें नहीं पाई जाती।

यह भी कहा जा सकता है कि मूलचारमें श्री कुंदकुंदाचार्यने भी अपने दूसरे ग्रन्थोंसे स्वरचित गाथायें लेकर इस ग्रंथमें क्यों भरदीं? इस ग्रन्थके प्रत्येक अधिकारीको स्वतंत्र रूपसे ही उन्हें रचना चाहिये था, परन्तु ऐसा कहना सन्देह मात्र ही है।

जान पड़ता है कि आचार्य वरको प्रत्येक विषयकी भावपूर्ण स्वरचित अनेक गाथायें कंठस्थ रहती थीं और प्रकरणवश उन्हें यथावश्यक निस्संकोच कहीं२ लिख जाते थे। यदि कहीं कुछ भूल जाते थे, तो दूसरे शब्दोंमें या पादोंमें उसकी पूर्ति और यथोचित परिवर्तन भी कर देते थे। यही कारण है कि कहीं पूरी और कहीं अधूरी गाथायें इस ग्रंथमें दिखाई पड़ती हैं। उदाहरणरूप देखिये, नियमसारकी गाथा ९९ और १०० भावपाहुड़की गाथा ५७-५८ हैं और नियमसारकी यही गाथा १०० समयसारमें गाथा २७७ है। खोज करनेपर ऐसे और भी अनेक उदाहरण मिल सकते हैं।

इन सब प्रमाणों और युक्तियोंसे सिद्ध होता है कि मूलाचारके कर्ता कुन्दकुन्दाचार्य ही हैं।

उपर्युक्त समस्त अनुसंधानका तात्पर्य यह है कि कुरलके अतिरिक्त शेष सभी रचनायें हमारे चरित्रनायक श्री कुंदकुंदाचार्यकी हैं।

श्रीमद् कुन्दकुन्दाचार्य

की

प्राप्त रचनाओंका भावाशय ।

(१) बारस अणुवेक्खा

(द्वादश अनुप्रेक्षा)

इस रचना द्वारा ९१ गाथाओंमें आचार्यवरने अनित्य, अशरण, एकत्व, अन्यत्व, संसार, लोक, अशुचित्व, आश्रव, सम्वर, निर्जरा, बोध और धर्म इन वारह भावनाओंका विस्तृत वर्णन किया है। जिनका कर्माश्रव रोकनेके लिये प्रत्येक मनुष्यको निरन्तर चिन्तन करना आवश्यक है।

अनित्य ।

आत्मद्रव्यकी प्रधानताको लक्ष्य करके श्रीवर्य कहते हैं कि संसारके विभिन्न पदार्थ, धनसंपत्ति, सगेसम्बन्धी, वलविभव, यौवनलावण्य आदि सभी अनित्य और नश्वर हैं। केवल एक आत्मद्रव्य ही अनादि, नित्य और अमर है।

अशरण ।

धन औषधि, सैना शस्त्र, गृहदुर्ग, मित्र कुटुम्ब और मंत्रतंत्रादि कोई भी किसी प्राणीको मरनेसे वचानेके लिये समर्थ नहीं है। जन्ममरणके दुःखोंसे छूटनेके लिये आत्मज्ञान ही एक अमोघ उपाय है, क्योंकि आत्मा ही पंचपरमेष्ठि और रत्नत्रयका केन्द्रस्थल है।

एकत्व ।

अकेला आत्मा ही स्वकृत कर्मोंके फलको स्वयं भोगता है, पुत्र कलत्र मित्रादि कोई भी सुखदुःखमें इसका साथी नहीं है ।

अन्यत्व ।

समस्त कुटुम्ब परिवार मित्रसेवकादि तो क्या, अपना शरीर भी आत्मासे साक्षात् भिन्न परपदार्थ है । दर्शन ज्ञानमय आत्मा ही सबसे पृथक् अपनी सत्तामें सदैव विराजमान है ।

संसार ।

मोह और मिथ्यात्वके वशीभूत हुआ आत्मा संसारमें अनेक प्रकारके कष्ट सहन करता है । कर्मजनित दुःखोंसे छूट जानेपर ही संसारके परिभ्रमणसे आत्मा छूटता है, अन्यथा नहीं ।

लोक ।

यह लोक जिसमें कर्मोंके फलानुसार आत्मा अनादिकालसे विभिन्न पर्यायोंमें परिभ्रमण कर रहा है, ऊर्ध्व लोक (स्वर्ग), मध्यलोक (इहलोक) और अधोलोक (नरक) तीन भागोंमें विभक्त है । शुभाशुभ कर्मोंके फलानुसार आत्मा इन्हीं तीन लोकोंमें भ्रमण करता हुआ जन्ममरणके बंधनमें है, परन्तु जब कर्मोंको नष्ट करके शुद्ध ज्ञानको प्राप्त होजाता है तो त्रिलोकवर्ती आवागमनके चक्रसे सदाके लिये छूट जाता है ।

अशुचित्व ।

इस संसारकी प्रत्येक वस्तु अपवित्र और अशुद्ध है केवल एक आत्मद्रव्य ही स्वभावतः शुद्ध और पवित्र पदार्थ है परन्तु कर्ममलसे लिप्त हुआ विकृत अवस्थामें है । जब वह कर्ममलसे स्वच्छ और

निर्मल होकर अपनी स्वाभाविक अवस्थामें स्थित होता है तो स्वतः अविनाशी आनंदका केन्द्रस्थल हो जाता है।

आस्रव।

मिथ्यात्व, अव्रत, विषय, कषाय आदि कुत्सितभाव और तदनुसार कृतियां कर्माश्रवके कारण हैं, जिनके फलस्वरूप आत्माको जगत-भ्रमण करना पड़ता है।

सम्वर।

शान्तिमय और वीतरागतापूर्ण धर्माचरणका पालन करनेसे ही कर्मोंका आश्रव रुक जाता है।

निर्जरा।

पूर्वसंचित कर्मोंकी निर्जरा सविपाक (फल देकर कर्मोंका क्षय) और अविपाक (विना फल दिये कर्ममलका नष्ट होना) दो प्रकारकी होती है। इस विषयमें आचार्यवरने गृहस्थोंकी ११ प्रतिमाओं (श्रेणियों) और त्यागियोंके १० धर्मोंका वर्णन करते हुए अंतरंग तथा बहिरंग परिग्रह (ममत्व भाव) के परित्याग कर देने तथा ज्ञान-स्वरूप आत्माके गुणोंका निरन्तर चिंतन करते रहनेका आदेश किया है जो निर्जराका मुख्य कारण है।

बोध।

मनुष्यकी विभिन्न संसारी अवस्थाओंकी तुलना करते हुये श्रीवर्यने आत्मबोधकी प्राप्तिको दुर्लभ निर्दिष्ट किया है और उसे प्राप्त करनेके लिये पूर्ण प्रयत्न करनेकी प्रेरणा की है। आत्मज्ञानसे मुक्ति प्राप्त हो सकती है।

धर्म ।

" आत्मस्वभाव: धर्म " के अनुसार अनंतदर्शन, अनंतज्ञान, अनंतवीर्य और अनंतसुख आत्माका स्वभाव, गुण तथा धर्म है। इसीके प्राप्त कर लेनेपर आत्मा निर्विकार और निर्मल निज अवस्थामें स्थित होता है और संसारबंधनसे सदाके लिये मुक्त होकर अविनाशी आनंदको प्राप्त हो जाता है। यही आत्माका अंतिम ध्येय है। अन्तमें आचार्यवरने प्रकट किया है कि इस रचना द्वारा मुझ कुन्दकुन्दाचार्यने व्यवहार और निश्चय दृष्टिकोण (नय) से ऐसा उपदेश किया है।

(२) दशभक्ति संग्रह।

(१) तीर्थंकर भक्ति—आठ गाथाओंमें नाम क्रमसे २४ तीर्थंकरोंकी स्तुति की गई है।

(२) सिद्ध भक्ति—९ गाथाओंमें सिद्धोंके भेद, निवासस्थान, अविनाशी सुख, और सिद्धपद प्राप्तिके साधनोंका उल्लेख है।

(३) श्रुतभक्ति—११ गाथाओंमें है। पहली गाथामें सिद्धोंको नमस्कार करके अगली गाथाओंमें द्वादशांग, १२ वें दृष्टिवाद अंगके पांच भेद, फिर १४ पूर्वोंके नामादि और भेदोंका वर्णन है।

(४) चारित्र भक्ति—१० गाथा अनुष्टुप छंदकी हैं। वर्धमानस्वामीको नमस्कार करके यह कथन किया है कि तीर्थंकर भगवानने प्राणीमात्रके कल्याणार्थ, सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहार-विशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय, यथाख्यात, ऐसे पांच प्रकार चारित्रका उपदेश दिया है। फिर साधुओंके मूलगुण और उत्तरगुण वर्णन करके उन्हें इनका निर्दोष और निरतिचार पालन करनेका आदेश किया है।

(५) अनागार भक्ति—२३ गाथाओंमें समस्त धर्मरत मुनियोंको वंदना की गई है। दूसरेसे १४ गुणस्थान तकका विस्तृत वर्णन किया है और उनके व्रतादिक लेने एवं तपस्या करनेके नियमों और साधनोंकी व्याख्या की है। अन्तमें कर्मजनित दुःखोंसे छूटनेकी प्रार्थना है।

(६) आचार्य भक्ति—१० गाथाओंमें आदर्श उपदेष्टा और मुनि संघानुशासक आचार्यके गुणोंका वर्णन किया है जो भव्यात्माओंको मुक्तिमार्गकी ओर आकृष्ट करनेको समर्थ हैं। ऐसे महामुनिको पृथ्वी समान सहनशील, जलसदृश्य शीतल स्वभाव, आकाशरूप विशुद्ध मन और समुद्रतुल्य गम्भीर व्यक्त करके श्रद्धापूर्वक उनकी अभिवंदना की है।

(७) निर्वाण भक्ति—२७ गाथा, इसमें यह कथन करके कि २४ तीर्थंकरों और अन्य पुनीत आत्माओंने कहां कहांसे निर्वाण प्राप्त किया है, समस्त सिद्ध आत्माओं और सिद्ध क्षेत्रोंकी वन्दना की है। भगवान महावीरके निर्वाणकी तिथि, समय आदिका भी निरूपण किया है।

(८) पंचपरमेष्ठी भक्ति—७ पद्योंमें है। प्रथम छः पद्य तो स्रुगविणी (मात्रावृत) छंदके हैं जिनके द्वारा अर्हत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधु इन पांच परमेष्ठियोंका गुणानुवाद किया है, अन्तमें एक गाथा द्वारा अविनाशी सुखकी प्राप्तिके लिये आकांक्षा की है।

(९-१०) नंदीश्वर भक्ति और शांतिभक्ति अप्राप्य हैं। अतः इनके विषयमें कुछ नहीं कहा जासकता।

(३) मूलाचार ।

यह मुनि धर्मका महान् ग्रंथ है । इसमें १२ अधिकार और १२४३ गाथायें हैं ।

पहले मूलगुणाधिकारमें प्रमत्त गुणस्थानसे अयोगकेवली पर्यन्त सर्व संयमियोंको नमस्कार करके आचार्यवरने अहिंसा, अस्तेय, सत्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—पांच महाव्रत, ईर्या (गमन) भाषा, ऐषणा (भोजन) आदाननिक्षेपण, प्रतिष्ठापना, पांच समिति, पंचेन्द्रिय निरोध (सामायक); चतुर्विंशतिस्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, कायोत्सर्ग, षडावश्यक, केशलोंच, आचेलक्य (नग्नमुद्रा), अस्नान अदंतवन, क्षितिशयन (भूमिशय्या), स्थिति भोजन, और एकभक्त साधुओंके इन २८ मूलगुणोंका विस्तृत वर्णन किया है । दूसरे वृहद् प्रत्याख्यान संस्तरस्तवाधिकारमें प्रत्याख्यान अर्थात् पापक्रियाओं एवं दुश्चारित्रके कारणोंका मन, वचन, कायसे त्यागने और समभाव रूप निर्विकल्प निर्दोष संयम करनेका, और प्रतिक्रमण अर्थात् मूलगुण या उत्तरगुणोंमेंसे किसीका आलस्यवश आराधन न करने पर अपने दोषोंकी निंदा करने, असंयम, अज्ञान, मिथ्यात्व, ममत्व रूप भावोंका त्याग करने, सात भय, आठ मद, आहार, मैथुन, भय, परिग्रहकी अभिलाषा रूप चार संज्ञा, ऋद्धि, रस, साता (सुख) रूप तीन गौरव (गर्व) जीवादि पञ्चास्तिकाय, पृथ्वी आदि छःनिकाय, ५ महाव्रत, ५ समिति, ३ गुप्ति, ९ पदार्थ, इन तेतीस पदार्थोंकी आसादना (परिभव) अर्थात् सशंकित या अन्यथा रूप धारणा, रागद्वेष इन सब भावोंका परित्याग करने, तथा आलोचना अर्थात् गुरुके समीप अपने दोषकी निंदा करते हुये सरलतासे प्रकट करने,

और क्षमावनी अर्थात् जिनके प्रति अयोग्य व्यवहार किया हो उनसे क्षमा प्रार्थना करनेका वर्णन किया है। फिर त्रिविधमरणका निरूपण किया है कि असंयमी सम्यक्दृष्टिके मरणको बालमरण, संयतासंयत श्रावकके मरणको बाल पंडित मरण और संयमी मुनि (केवली पर्यंत) के मरणको पंडित मरण कहते हैं। इस त्रिविध मरणके कारणोंकी और संसारभ्रमणकी व्याख्या की है, तथा मुनियोंको सावधानीसे यत्नपूर्वक सन्यास मरणका आदेश किया है। आचार्य कहते हैं कि शास्त्रोक्त विधिके अनुसार समाधिमरण संसारभ्रमणसे छूट जानेका कारण है।

तीसरे संक्षेपतर प्रत्याख्यानाधिकारमें भी उपर्युक्त प्रतिक्रमणादिका भावपूर्ण संक्षिप्त कथन है।

चौथे समाचार नामाधिकारमें समाचार अर्थात् सम्यक् आचारका वर्णन है जो औधिक और पद विभागिक दो प्रकार है। औधिक समाचारके दश भेद हैं—(१) इच्छाकार अर्थात् शुद्ध परिणामोंमें स्वेच्छापूर्वक प्रवर्तन, (२) मिथ्याकार अर्थात् व्रतादिकमें अतीचार होनेपर अशुभ परिणामोंमें मन, वचन, कायरूप त्रियोगकी निवृत्ति, (३) तथाकार अर्थात् सूत्र (शास्त्रों) के अर्थग्रहण करनेमें आप्त वचन तथेति (ऐसा ही है) कहना, (४) निषेधिका अर्थात् किसी स्थानमें वहांके रहनेवालों या मालिकसे पूछे विना प्रवेश या वहांसे गमन न करना, (५) आसिका अर्थात् सम्यक्दर्शनादिमें स्थिर भाव रखना, (६) आपृच्छा अर्थात् शास्त्राध्ययनमें गुरुसे विचारपूर्वक प्रश्न करना, (७) प्रतिपृच्छा अर्थात् पुस्तक, कमंडल आदि किसी साधर्मी

तथा दीक्षागुरुसे नम्रतापूर्वक पूछकर लेना, (८) छंदन अर्थात् पुस्तकादिको देनेवालेके अभिप्रायके अनुकूल रखना, (९) निमंत्रण अर्थात् अग्रहीत द्रव्यको सत्कारपूर्वक सुरक्षित रखना, (१०) उपसंयत अर्थात् गुरुकुल (आम्नाय) के अनुकूल आचरण करना।

दिनरातके समय प्रतिक्षणि नियमादिकका निरन्तर पालन करना पदविभागिक समाचार है।

गुरुसे आज्ञा लेकर एक दो अथवा तीन साधुओंके साथ शास्त्रके विशेषज्ञ किसी आचार्यके समीप जाय, मार्गमें कोई पुस्तक या शिष्य या पुस्तक सहित शिष्य मिल जाय तो उसे गुरुके पास लेजाय ऐसा वर्णन करके आचार्यवरने आगंतुक मुनियोंके प्रति सविनय व्यवहार करनेका आदेश किया है। और कहा है कि मुनियोंको आर्यिकाओंकी वसतिकामें ठहरना, बैठना, सोना, स्वाध्याय करना आदि वर्जनीय हैं। इसी प्रकार आर्यिकाओंके आचार और परस्पर व्यवहारका स्पष्ट निरूपण किया है।

पांचवे पंचाचाराधिकारमें सम्यक्रूप दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तप-आचार, और वीर्याचार, इन पांच आचारोंका और उनमें लगनेवाले अतीचारों (दोषों) का कथन किया है, सम्यक्त्वका लक्षण और उसके अंगोंका फिर श्रद्धेय नो पदार्थोंका और उनके भेदोपभेदका विस्तृत वर्णन है। यह भी प्रतिपादन किया है कि जैसे चिकने शरीरपर धूल चिपट जाती है इसी प्रकार आत्मासे कर्मवर्गणाओंका बंध होता है। अन्तमें इन पंचाचारोंके नियमपूर्वक पालन करनेका फल मोक्षप्राप्ति बताया है।

छठे पिंडशुद्धि अधिकारमें शुद्ध आहार लेनेके नियमोंका कथन है । उद्गम, उत्पादन, अशन, संयोजन, परिमाण, अंगार, धूम, कारण इन आठ दोषोंसे रहित भोजन ही साधुजनोंको ग्रहण करने योग्य बताया है । आचार्यने इन दोषोंकी व्याख्या करके इनके भेद प्रतिभेद भी विशाल रूपसे वर्णन किये हैं, और बताया है कि साधुको किसके हाथका, किस प्रकारका, किस निमित्तसे, और किस विधिसे आहार लेना या न लेना चाहिये ।

सातवें षडावश्यक अधिकारमें नियमपूर्वक साधुके पालने योग्य सामायक, चतुर्विंशति स्तोत्र, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, कायोत्सर्ग, षडावश्यकोंका विस्तृत वर्णन है जिनके यथाविधि पालन करनेसे साधुजन कर्मोंकी निर्जरा करके अविनाशी पद प्राप्त कर लेते हैं ।

आठवें द्वादशानुप्रेक्षा अधिकारमें साधुओंकी निरंतर चिंतन करने योग्य अनित्यादि बारह भावनाओंका बृहद् व्याख्यान है ।

नवें अनगार भावनाधिकारमें आचार्यने साधुओंकी शुद्ध भावनाओंकी व्याख्या की है और कहा है कि जो साधु लिंग, व्रत, बसति, विहार, भिक्षा, ज्ञान, उज्झन (शरीर संस्कार त्याग), वाक्य, तप और ध्यान सम्बंधी दश प्रकार शुद्धियोंसे युक्त मुन्याचारात्मक शास्त्रका मनन पूर्वक अध्ययन करता है वही मोक्षका पात्र है । जो अपने जीवनको नश्वर और परमार्थ रहित जानकर समस्त भोगोपभोगका परित्यागी, जन्म मरणके दुःखोंसे भयभीत होकर, जिन प्रणीत द्वादशांग प्रवचनकी श्रद्धा धारण करता है वही अपने ध्येयको प्राप्त कर सकता है, फिर उपर्युक्त लिंगादि दश शुद्धियोंका लक्षण भेद

आदि सहित निरुपण किया है और तदनुकूल मुनियोंको आचरण करनेका साग्रह आदेश किया है ।

दशवें समयसाराधिकारमें पूर्वाचार्यों द्वारा कथित द्वादशांग परम तत्वको समयसार बताकर आचार्यवर कहते हैं कि उपसर्ग सहनको समर्थ, सांसारिक भोगोंसे विरक्त, वैराग्य भावोंसे युक्त मुनि थोडा वहुत भी शास्त्राध्ययन करे तो भी कर्मोंका नाश कर देता है। सुतरां वैराग्य रहित साधु समस्त वांग्मयका पारगामी होनेपर भी कर्मोंका क्षय नहीं कर सकता । सम्यक्चारित्र पालनेवाला, भिक्षा—भोजन अल्प मात्रामें करनेवाला, कम बोलनेवाला, दुःखोंको धैर्यसे सहनेवाला, निद्राको जीतनेवाला, मैत्रीभावका सदैव चिन्तवन और वर्तन करनेवाला, वैराग्यभाव रखनेवाला, ज्ञान दर्शनके अतिरिक्त किसी पदार्थमें ममत्व न रखनेवाला, शुद्ध ध्यानमें एकाग्रचित्त रहनेवाला, आरम्भ न करनेवाला, कषाय और परिग्रहको बिलकुल त्याग देनेवाला, आत्महितमें उद्यम करनेवाला, थोड़ा शास्त्र पढ़नेपर भी दशपूर्वके पाठी शिथिलाचारी मुनिसे अधिक शीघ्र ध्येयकी प्राप्ति कर लेता है। षडावश्यक क्रिया रहित, ज्ञान संयम रहित, जिन मुद्रा तथा सम्यक्त्व रहित, तप धारण करनेवाले मुनिकी सब क्रिया निष्फल रहती हैं। अतः साधुओंको यत्नपूर्वक सम्यक्चारित्र पालन करना चाहिये। इसीसे नवीन कर्मबंधका संवर और संचित्त कर्मोंकी निर्जरा होसकती है।

ग्यारहवें शील गुणाधिकारमें तीन योग (मन वचन काय), तीन कारण (प्रवृत्ति), चार संज्ञा, पांच इन्द्रियं, दश काय (पृथ्वी आदि), दश धर्म (क्षमा आदि), इनके परस्पर गुणा करनेसे अठारह

हजार शीलके भेद कहकर इनका विस्तृत निरूपण किया है ।

बारहवें पर्याप्ति अधिकारमें शरीरकी रचना, इन्द्रिय, संस्थान, योनि, आयु, आयु और देहका परिमाण, योग, वेद, लेश्या, प्रविचार. उपपाद, उद्वर्तन, जीवस्थानादि, स्थान, कुल, अल्प बहुत्व, चतुर्विधबंध, इन सूत्रोंका कथन है । आहार निष्पत्ति, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोश्वास, भाषा, मन, इनकी पर्याप्तिरूप छः भेद हैं । पृथ्वीकायादि एकेंद्रिय जीवोंके आदिकी चार, और द्वेंद्रियसे असैनी पंचेंद्रियके पांच तथा संज्ञी पंचेंद्रिय जीवके छहों पर्याप्ति होती हैं ।

फिर आचार्यवरने वीस सूत्रोंकी भेदोपभेद सहित बृहद् व्याख्या की है और अन्तमें अष्ट कर्मोंके बंधादिका प्रतिपादन किया है ।

---

(४) समयसार ।

इस ग्रंथमें आचार्यवरने ४१४ गाथाओंमें आत्म-द्रव्य और आत्माके अंतिम ध्येयका स्पष्ट वर्णन किया है । इन गाथाओंको प्रकरणवश नौ अधिकारोंमें निम्नप्रकार विभक्त किया है ।

जीवाजीवाधिकार ६८ गाथा, कर्तृत्व कर्म ७६ गाथा. पुण्य पाप १९ गाथा, आश्रव १७ गाथा, संवर १२ गाथा, निर्जरा ४४ गाथा, बन्ध ५० गाथा, मोक्ष २० गाथा, सर्वविशुद्ध ज्ञान १०८ गाथा।

जो जीव दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप निज स्वभावमें तिष्ठे उसे समय कहते हैं और जो पुद्गल कर्म प्रदेशोंमें तिष्ठे वह पर समय कहलाता है । अर्थात् जो आत्मा अपने ही गुण-पर्यायमें परिणमें वह समय है। जीव पर समयरूप होकर-अर्थात् इन्द्रियोंके विषयोंको सुख जानकर

शुभाशुभ कर्मबन्धके फल अनादिकालसे भोगता है सो इनका अनुभव तो सुलभ है, परन्तु इसने सर्व प्रकारके परद्रव्योंसे भिन्न अपने चैतन्य स्वरूपका कभी अनुभव नहीं किया है, इसलिये यह दुर्लभ है। आत्मा ज्ञायकरूप है। ज्ञायक भाव निश्चयनयसे एकरूप है और व्यवहारमें दर्शन, ज्ञान, चारित्र तीन भेदरूप है।

जीवादि नव तत्वोंको निश्चयनयसे जान लेना तथा तद्रूप अनुभव करना ही मोक्षप्राप्तिका मार्ग है। कर्म नोकर्म पौद्गलिक पदार्थोंमें जीवकी तन्मयता तथा सचित्ताचित्त अन्य पदार्थोंमें निजताका भाव रखना अज्ञानता है। इससे भिन्न आत्माको शुद्ध ज्ञानमय अनुभव करना और अपने चैतन्यस्वरूपमें ही आपा मानना सम्यक्ज्ञान है। व्यवहारनयसे तीर्थंकरादिकी देहकी पूजा होती है, परन्तु निश्चयनयसे उनके आत्मीक गुणोंकी ही पूजा स्तुति की जाती है, जो उनके देहकी ही शांत मुद्रा और वीतराग आकृतिसे प्रत्यक्ष प्रगट होते हैं।

विषय कषाय मोह आदि परभावोंके परित्यागसे ही आत्माके निज स्वभावका साक्षात् बोध होजाता है यही सम्यक्चारित्र है। क्रोधादिक भावोंसे आश्रव और आश्रवसे कर्मबन्ध होता है। पुनः वही कर्मबन्ध उदय होकर क्रोधादिक भावोंको उपजाता है, जिससे फिर बन्ध होता है और उदयमें आता है। इस प्रकार कर्मबन्धके प्रवाहको आत्माने अभीतक नहीं जाना, इसीसे वह अनादिकालसे संसारमें भ्रमण कर जन्म मरणके दुःख भोग रहा है।

राग, द्वेष, सुख, दुःखरूप भाव जो अन्तरङ्गमें उत्पन्न होते हैं वे कर्मोंके परिणाम हैं और स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्द, संस्थान, स्थूल

सूक्ष्मभाव जो बहिरंगमें उपजते हैं वह नोकर्मके परिणाम हैं। निश्चय-नयसे इन भावोंका कर्ता पुद्गल है जीव नहीं। क्योंकि जीव और पुद्गलमें व्याप्य व्यापक सम्बंध नहीं है।

जीव ज्ञानमय है और अपने ही स्वभावमें परिणमन करता है। यद्यपि पुद्गल जीवके परिणामोंके निमित्तसे कर्मरूप परिणमता है तथापि न तो जीव कर्मको ग्रहण करता है और न पुद्गल जीवके गुणको ग्रहण करता है। इन दोनोंमें परस्पर निमित्त कारणसे परिणमन होता है, परन्तु जिन्हें यह भेदविज्ञान नहीं है वह परस्पर निमित्त नैमित्तिक सम्बंधको देखकर जीवको पुद्गल कर्मका कर्ता मानते हैं, जो व्यवहार-नयसे ठीक भी है।

शुद्धनयसे तो आत्मा शुद्ध निरञ्जन चैतन्य स्वरूप है परन्तु वह मोहवश अज्ञानी मिथ्यात्वी हुआ अव्रतरूप उपयोगसे कर्ता माना जाता है। अज्ञानतावश ही जीव परवस्तुमें ममत्व मानता तथा निजको पररूप जानता है। परन्तु ज्ञानी जीव निजपरका भेदज्ञान होनेके कारण पररूप परिणमन नहीं करता, अपने ज्ञानस्वभावमें परिणमता है।

जैसे कुंभकार मृत्तिकासे घट बनाये तो घटमें मृत्तिका निज रससे वर्तती है, कुंभकार अपने गुण द्रव्यको उसमें नहीं मिलाता, अतः घटका कर्ता वास्तवमें मृत्तिका है कुंभकार नहीं, इसी प्रकार जीव कषायवश जो कर्म करता है निश्चयनयसे उसका कर्ता कषायभाव है आत्मा नहीं, यों जैसे सैनाके रणमें लड़नेपर उपचारनयसे लोग कहते हैं कि राजा युद्ध करता है, हालांकि राजा तो महलमें आनंद भोग रहा है, वैसे ही कषायजनित ज्ञानावर्णादिक भाव ही शुद्ध

नयसे कर्मबंधके कर्ता हैं, आत्माको तो व्यवहारनयसे कर्ता माना जाता है, शुद्धनयसे नहीं ।

शुभाशुभ भावोंसे पाप पुण्यरूप कर्म केवल सुखदुःखके कारण हैं, मोक्षके कारण दोनों नहीं । उनमें हेय उपादेयका भाव रखना अज्ञानता है । मोक्षपदकी प्राप्ति तो दोनोंके क्षय करनेसे ही हो सक्ती है । इसलिये पुण्य पापरूप दोनों प्रकारके कर्म और इनके कारणभूत शुभाशुभ परिणाम सब ही त्याज्य हैं । रागभावसे कर्मबन्ध होता है और वैरागभावसे कर्मबन्ध टूट जाता है । ज्ञानमय आत्माके परमार्थ स्वरूपको जाने बिना तप, व्रत, नियम, शील आदि पालनेसे मोक्षपद प्राप्त नहीं हो सकता ।

स्वभावतः आत्मा सर्व पदार्थोंका ज्ञातादृष्टा है परन्तु अनादिकालसे वह कर्मरजसे आच्छादित हुआ संसारमें परिभ्रमण कर रहा है, अतः समस्त कर्मफलको नष्ट कर अपने निज स्वभावको विकसित करके ही अविनाशी मोक्षपदको पा सकता है ।

भेदज्ञान द्वारा आत्माके ज्ञानमयं स्वरूपको जाने विना कर्माश्रवका सम्वर नहीं होता। जो जीवात्मा रागद्वेषादि विभावोंको निजभाव (स्वभाव) रूप जानता हैं उसे शुद्ध स्वरूपकी प्राप्ति नहीं होती । और जो इन भावोंको अंन्यरूप जानकर ज्ञान स्वरूप शुद्धात्माको ध्याता है उसके कर्माश्रवका स्वयं सम्वर हो जाता है । विद्यमान मिथ्यात्व, अव्रत, अज्ञान और योगका अभाव होनेसे ही आश्रवका अभाव हो जाता है ।

आश्रवके अभावसे कर्मोका, कर्मोंके अभावसे नोकर्मका, और

नोकर्मके अभावसे संसार-भ्रमणका अभाव होता है। आत्मा और कर्मकी विभिन्नताके जाननेसे ही निजस्वरूपका अनुभव हो सकता है।

पूर्व संचित कर्मोंके खिर जानेको निर्जरा कहते हैं, उनके उदय होनेपर सुखदुःख होते हैं, उन्हें ज्ञानीजन वैराग और समभावोंके साथ भोगते हैं जिससे परिणामरूप उनके आगेके लिये पुनः कर्मबन्ध नहीं होता, क्योंकि कर्मबन्धके कारण तो रागद्वेष मोह मिथ्यात्वरूप भाव हैं जिन्हें सम्यक्दृष्टि अपने ज्ञानस्वरूपसे भिन्न जानता है, अतः ज्ञान गुणयुक्त आत्मा ही यथार्थरूपसे कर्मोंकी निर्जरा करनेको समर्थ है। सुतरां अज्ञानी आत्माके दुर्द्धर तप, कठिन व्रत आदि करते हुये भी वास्तविक निर्जरा नहीं होती। ज्ञान और वैराग्यके प्रभावसे ही कर्मोंकी निर्जरा करके आत्मा कर्ममलसे स्वच्छ हो जाता है और अपने अंतिम ध्येय मोक्षपदको प्राप्त कर लेता है।

जबतक आत्माको अपने और परके लक्षण जानकर भेदविज्ञान-रूप विशिष्ट ज्ञान प्राप्त नहीं हो जाता है तब तक वह मिथ्यादृष्टि, अज्ञानी और असंयमी रहकर कर्मबंध करता रहता है। भेदविज्ञान हो जानेपर जब विशुद्धरूपसे ज्ञाताद्दष्टा हो जाता है, फिर कर्मबंध नहीं करता।

परद्रव्योंके रागभावसे विरक्त होकर प्रत्येक आत्माको मोक्षा-वस्थाकी प्राप्तिमें सदैव संलग्न हो जाना चाहिये, यही जीवात्माका पवित्र कर्तव्य और अंतिम ध्येय है।

---

(५) पंचास्तिकाय ।

इस ग्रंथमें १७२ गाथाओं द्वारा आचार्यवरने जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश, इन पांच द्रव्योंको, सदैव अपने नानाविध गुणों और व्यतिरेक रूप पर्यायोंमें प्रवर्तनेके कारण अस्तिस्वभाव और अनेक प्रदेशी होनेके कारण कायवन्त बताकर इनको पंचास्तिकायके नामसे निरूपण किया है और इन्हींको उत्पाद, व्यय, ध्रुवके आधीन होनेसे तीनों लोककी रचनाका कारण सिद्ध किया है।

इन पंचास्तिकाय द्रव्योंके सदैव परिणमनसे काल द्रव्यकी सत्ता भी सिद्ध होती है परन्तु यह एकप्रदेशी होनेके कारण अस्तिकाय द्रव्योंकी गणनामें नहीं लिया गया है तो भी प्रकरणवश कालद्रव्यका भी गौणरूपसे कहीं २ यथावश्यक वर्णन किया है। यह द्रव्य परस्पर मिलेजुले अपने व्यवहारमें प्रवृत्त रहते हैं, परन्तु तो भी एककी सत्ता दूसरे द्रव्यसे बिल्कुल अलग है।

पुनः आचार्यवरने जीव द्रव्यकी संसारी और मुक्त अवस्थाओंका विस्तृत वर्णन किया है और बताया है कि यह जीव जिस शरीरको ग्रहण करता है उसीकी अवगाहनाके अनुसार संकोच या विस्तारको प्राप्त हो जाता है, जीवको स्वभावतः विवेक और विचारशक्ति प्राप्त है उसीके द्वारा उसके स्वाभाविक गुण (ज्ञान और दर्शन) विकसित होते हैं।

संसारी जीव कर्मकर्ता है और उसके फल भोगता है फिर दर्शन और ज्ञानका वर्णन करते हुये जीवसे इनके सम्बंधकी व्याख्या की गई है।

पुद्गल द्रव्यके परमाणुओं और उनके स्कंध आदिका कथन किया है, फिर धर्म अधर्म द्रव्योंका उदाहरण सहित वर्णन किया है, आकाश द्रव्यको सकाय और अकायकी अपेक्षासे समझाया है और संक्षेपमें कालद्रव्यकी भी व्याख्या की है।

तत्पश्चात् जीव, अजीव, आश्रव, बंध, सम्वर, निर्जरा, मोक्ष और पुण्य पाप इन नौ पदार्थोंका क्रमशः विस्तारपूर्वक कथन किया है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप रत्नत्रयकी व्याख्या देकर इनको मोक्ष-प्राप्तिका साधन सिद्ध किया है।

जीव और अजीवका परस्पर सम्बंध बताकर पुण्यको शुभ और पापको अशुभ परिणामरूप लिखा है। शुभ भावोंको शुभ कर्मोंके और अशुभ भावोंको अशुभ कर्मोंके बंधका कारण बताया है। परन्तु इस शुभाशुभ कर्मबंधसे छूटनेके लिये शुभाशुभ दोनों प्रकारके भावोंको परित्याग करनेकी शिक्षा दी है।

आचार्य कहते हैं कि यदि शुभाशुभ भावोंको त्याग कर शुद्धोपयोगके साथ तपस्या अर्थात् आत्ममनन किया जाय तो कर्मोंका अवश्य क्षय होजाता है। शुभाशुभ परिणामोंके परिणामसे नवीन कर्मबंध रुक जाता है और शुद्धोपयोगके द्वारा पूर्व संचित कर्मोंकी निर्जरा होजाती है। अतः आत्म-चिंतनमें संलग्नताका अंतिम और अवश्यंभावी परिणाम मोक्षप्राप्ति है।

उस परमपद तथा अत्योत्कर्ष अवस्थाको प्राप्त होकर आत्मा, अनंतदर्शन, अनंतज्ञान, अनंतवीर्य और अनंतसुख अर्थात् अनन्त चतुष्टयरूप निज स्वभावमें स्थित होजाता है। अनादिकालीन अपनी

विकृत अवस्थाका परिहार करके तथा कर्ममलसे स्वच्छ और निर्मल होकर अपनी स्वाभाविक निर्विकार अवस्थाको प्राप्त कर लेता है।

अनंत चतुष्टय युक्त जीवात्मा अपनी इस जीवन्मुक्त (अर्हंत) अवस्थाकी समाप्तिपर मोक्षपद पालेता है, जो प्रत्येक आत्माका अंतिम लक्ष्य और मानवीय जीवनका ध्येय है। मुक्ति प्राप्त आत्मा सदाके लिये जन्म मरणसे छूटकर अजर अमर और अविनाशी होजाता है।

अन्तमें आचार्यवरने मोक्षका लक्षण और मोक्षप्राप्तिके साधनोंका व्यवहार और निश्चयनयकी दृष्टिसे संक्षिप्त वर्णन किया है।

(६) प्रवचनसार।

इस ग्रंथको वर्णित विषयोंकी अपेक्षासे तीन अधिकारोंमें विभक्त किया गया है। ज्ञानाधिकारकी ९२, ज्ञेयाधिकारकी १०८ और चारित्राधिकारकी ७५ गाथायें हैं और इस प्रकार यह ग्रन्थ कुल २७५ गाथाओंमें समाप्त हुआ है।

सर्व प्रथम आचार्यवरने पंचपरमेष्ठियोंको नमस्कार करके आत्मा और उसके गुणोंके विकासका वर्णन किया है। सराग चारित्र कर्मबन्धका कारण होनेसे हेय और विराग चारित्र मोक्षप्राप्तिका साधन होनेसे उपादेय है। आत्मस्वरूपके अनुकूल आचरण ही वस्तु स्वभाव होनेसे धर्म है। उद्वेग रहित आत्माके परिणामको समभाव कहते हैं अर्थात् वीतराग चारित्र ही आत्मस्वभाव या आत्मधर्म है।

जिस स्वभावसे आत्मा परिणमन करता है उस समय वह तद्रूप होजाता है। यह नियम है किं कोई द्रव्य विना पर्यायके परिणमन

नहीं करता। अतः परिणाम विना द्रव्यकी कोई सत्ता नहीं और विना द्रव्यके परिणमन नहीं होता।

भावार्थ—द्रव्य जो गुण पर्याय सहित है उसीका अस्तित्व सिद्ध होसकता है। अतः गुणपर्यायकी ऐक्यता ही द्रव्यका लक्षण है।

शुद्धोपयोग द्वारा आत्मा चार घातिया कर्मोंका नाश करके स्वयंभू होजाता है। और तभी उसको अनंतज्ञान, अनंतवीर्य तथा अनंतसुखकी प्राप्ति होजाती है। सर्वज्ञावस्थामें शारीरिक सुख दुःख नहीं होता, प्रत्येक वस्तु उसके दृष्टिगोचर होजाती है।

चूँकि उसका ज्ञान समग्र ब्रह्माण्डवर्ती समस्त ज्ञेय पदार्थों तक फैल जाता है। इस अपेक्षासे सर्वज्ञात्मा, सर्वव्यापक भी होजाता है तथा विना किसी बाह्य साधनके सर्वज्ञके ज्ञानमें समस्त पदार्थ उनकी भूत भविष्यत् और वर्तमान पर्यायों सहित युगपत झलकने लगते हैं और सूक्ष्म तथा अविद्यमान पदार्थोंका भी उसको प्रत्यक्ष दर्शन हो-जाता है जिनका इन्द्रियों द्वारा ज्ञान नहीं होसकता।

संसारी आत्माओंकी भांति सर्वज्ञका आत्मा कर्मबंधके कारण लोभ मोहादिकमें लिप्त नहीं होता। पूर्ण ज्ञान होनेसे पूर्ण आनंदकी स्वयं प्राप्ति हो जाती है। इन्द्रियजन्य शारीरिक सुख वास्तवमें कोई सुख नहीं है। आत्मिक आनंद ही वास्तविक और अविनाशी सुख है। ज्ञान और सुखका परस्पर ऐसा अविनाभावी सम्बन्ध है जैसे सूर्यका तेज और उसकी उष्णता परस्पर सम्बद्ध है।

शुभोपयोग अर्थात् पंचपरमेष्ठिका ध्यान, स्वात्मचिंतन, व्रता-भ्यास, और तपश्चरणादि परिणामोंका होना शुभ है, जिनके फलस्वरूप

आत्मा देव और मनुष्य पर्यायोंमें नानाप्रकारके दीर्घकालीन सुख भोगता है, परन्तु यह सुख कोई वास्तविक और अविनाशी सुख नहीं है।

शुद्धोपयोग धारण करनेसे समस्त दुःखों और क्लेशोंका स्वयं नाश हो जाता है। जो पूर्णतः अर्हतका स्वरूप जानता है वह अपने आत्माका स्वरूप भी जान लेता है, आत्मा और परमात्माका भ्रम उसके मनसे दूर हो जाता है। इस भ्रांतिके मिट जानेसे आत्मा अर्हतावस्थाको प्राप्त होकर और सर्व कर्मोंका नाश करके मोक्षलाभ कर लेता है। अतः आत्मा और परमात्माके विवेकसे ही सच्चा ज्ञान विकसित होता है।

विश्वके जितने द्रव्य हैं वे विभिन्न गुणपर्याय सहित सभी ज्ञेय हैं। उत्पाद व्यय ध्रुवकी अपेक्षासे उनकी परिणति प्रतिसमय परिवर्तित होती रहती है, अर्थात् जब एक अवस्थाका अंत होता है तो दूसरी अवस्था तत्क्षण उत्पन्न होजाती है। इसलिये प्रत्येक वस्तु अपने गुणपर्याय सहित स्वयं विद्यमान है।

द्रव्य दो प्रकारके हैं—चेतन और अचेतन। जीव चेतन्य ज्ञानमय है और अजीव या अचेतन ज्ञानशून्य है। पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल यह पांच भेद अजीव द्रव्यके हैं। यह सब द्रव्य लोकाकाशमें हैं। अलोकाकाशमें केवल एक द्रव्य आकाश ही है अन्य और कोई द्रव्य नहीं है। कालद्रव्यमें प्रदेश नहीं है, शेष द्रव्य अनेकप्रदेशी हैं। इस हेतुसे वे अस्तिकाय कहलाते हैं।

लोक अनादि और अनंत है तथा द्रव्योंसे परिपूर्ण है। आत्मामें उनके जाननेकी शक्ति है परन्तु सशरीर आत्मा कर्मबंधयुक्त होनेके

कारण स्वकृत कर्मोंका फल भोगता और नवीन कर्म उपार्जन करता है । इसीसे विभिन्न शरीर धारण करता है । आत्मा चैतन्यस्वरूप है अशुद्ध चैतन्यस्वरूप सराग उपयोग शुभ और अशुभ दो प्रकार हैं शुद्ध चैतन्यस्वरूप वीतराग उपयोग शुद्धरूप ही होता है ।

जिस समय आत्माका विषय कषाययुक्त अशुभोपयोग होता है तब पापरूप वर्गणाओंका बंध आत्मासे बंधता है और जब उनका उपयोग दान, पूजा, तपादि क्रियाओंमें होता है तो इस शुभोपयोगसे पुण्यरूप कर्मवर्गणाओंका बंध होता है । कर्मवर्गणाओंमें जो परिवर्तन होता है निश्चयनयसे आत्मा उसका कर्ता नहीं बल्कि सूक्ष्म या स्थूल पौद्गलिक परमाणु कर्मानुसार आत्मासे लगते हैं वही उसके कारण हैं । आत्मा इन्द्रियविषयोंसे रहित है । विदेह आत्मा स्थूल द्रव्य नहीं है तो भी स्थूल द्रव्योंको जानता है । आत्मामें कार्माण वर्गणाओंके समाविष्ट हो जानेके लिये अवगाहना शक्ति है । बंधकालके अनुसार वे वर्गणायें आत्मासे लगी रहती हैं, नियत समय व्यतीत हो जानेपर वे स्वयं नष्ट हो जाती हैं । आत्मा अपने गुणावगुणोंके विकासका स्वयं कारण है । आत्माका अपने स्वरूपमें तल्लीन होना तभी संभव है जब वह समस्त रागद्वेषरूप भावोंसे नितांत विरक्त होजाय, आत्मा निज स्वभावसे ज्ञायक है और समस्त वस्तुओंके साथ उसका ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध है, परन्तु किसी वस्तुके साथ उसका स्वामित्व सम्बंध नहीं है।

साधु चारित्र वाह्याभ्यंतर भेदसे दो प्रकार हैं—मोक्ष लाभके प्रयोजनसे पापोंसे विरक्त होना और शुद्ध भावनाओंसे आत्मध्यानमें लीन होजाना आभ्यंतर चारित्र है । नग्नमुद्रा धारना, पंचमुष्टि केशलोंच

करना, छहों कायके जीवोंकी करुणा पालना, शरीरतकसे मोह त्यागना, व्रतोपवास आदि करना बाह्य चारित्र है । परन्तु स्त्रियोंके लिये भी उनकी अयोग्यताके कारण उनको कुछ वस्त्र धारण किये रहनेकी आज्ञा है (इसकी आवश्यकता भी है) वे आर्यिका कहलाती हैं, मुनि और आर्यिका दोनोंके लिये निःकषाय होना और २८ मूलगुण धारण करना परमावश्यक है ।

यदि व्रत पालन करनेमें उनसे कोई त्रुटि होजाय तो आचार्य (गुरु) से स्पष्ट कह देना चाहिये । प्रतिसमय उन्हें सावधान और निष्प्रमाद रहना चाहिये । आहार या उपवास, ठहरने या घूमने, अकेले या संगतमें रहने, बिलकुल मौनवृत्ति या गप्प हांकने आदि किसी एक विशेष क्रियामें अनुराग नहीं होना चाहिये । इस प्रकारका भेद भी मोक्षमार्गमें बाधक है । साधु इष्ट और अनिष्ट दोनोंमें समभाव धारण करता है, उसे इतना परिग्रह रखना पर्याप्त होता है, जो साधुवृत्तिके निर्वाहके लिये आवश्यक हो, और जिसके लिये किसी प्रकार पाप क्रिया न करनी पड़े। नग्न शरीर आचार्योंके प्रवचन (शास्त्र), पीछी और कमण्डलु यही परिग्रह जरूरी है । अन्य परिग्रह रखनेमें मोह और ममत्वभाव अवश्य उत्पन्न होंगे और चारित्रमें बाधा डालेंगे। ममत्व तो साधुको शरीरसे भी नहीं रखना चाहिये । मुनिको शास्त्राध्ययन आवश्यक है, जिससे उसे तत्वज्ञान और निजपरका विवेक होसके । इसीसे उसे ममत्वत्याग, आत्मध्यान, संयमपालन, आदिकी शक्ति प्राप्त होसकती है । दिनमें एकवार भिक्षावृत्तिसे उसे सूर्यास्तसे पूर्व शुद्धाहार पाणि—पात्रमें ग्रहण करना योग्य है ।

किसी अधिक गुणवान साधु या आचार्यके आनेपर विनयभावसे विनम्र खुश होकर उसका सत्कार करना चाहिये। कदाचारी साधु और जनताकी संगतसे बचना चाहिये। अपने समान या अधिक गुणवान विद्वानों और साधुओंके साथ रहनेका प्रयत्न लाभदायक है।

अर्हंतावस्थाका ध्यान करनेसे, सर्वज्ञप्रणीत मार्गके अनुगामियोंसे प्रेमभाव प्रकट करनेसे, सिद्धान्तका प्रचार करनेसे, शिष्योंको शिक्षा देनेसे, साधुओंको सहायता देनेसे, जनताका कल्याण करनेसे, वैय्यात्रत करनेसे शुभोपयोग होता है। शुद्धोपयोगी साधु प्रत्येक वस्तुको विवेक-पूर्ण ग्रहण करता है। बाह्याभ्यंतर परिग्रहके ममत्वभावका और इन्द्रिय भोगोंकी इच्छाका परित्याग कर देता है। जो साधु अनुचित चारित्रको छोड़कर वस्तु स्वभावका विवेक प्राप्त कर लेता है, पूर्ण शांतभाव धारण कर तपस्यामें लीन हो जाता है वही शीघ्र निर्वाण लाभ करता है और सिद्ध परमेष्ठिकी परम शुद्धावस्थाको प्राप्त हो जाता है जो अनंत और अविनाशी है।

---

(७) दर्शन प्राभृत।

इसमें ३६ गाथायें हैं जिनके द्वारा सम्यग्दर्शनका महत्व वर्णन किया है। सामान्यतः इसका अर्थ जिनेन्द्र भगवान उपदिष्ट सिद्धांतका दृढ़ श्रद्धान करना तथा आत्माके स्वाभाविक गुणोंको यथार्थ रूपमें जान लेना है। यही धर्मका आधार और मुक्तिमार्गका सुनिश्चित साधन है, इसके विना ज्ञान, चारित्र और तपका कोई मूल्य नहीं, यही पुण्यरूपी वृक्षकी जड़ है। और इसीसे कर्ममलका क्षय

होता है कि सम्यक्दृष्टि ही इसलोक और परलोकमें महिमाको प्राप्त होता है। मिथ्यादृष्टि न कहीं सम्मान पाता है और न संसार-भ्रमणसे छूट सकता है।

विना सम्यक्दर्शनके पुण्य भी पुण्यरूप नहीं। यदि किसीको मनुष्यजीवन सफल बनाना अभीष्ट है तो उसे जिनेन्द्रदेवकी सच्ची भक्ति द्वारा सम्यक् श्रद्धान प्राप्त करना अनिवार्य है।

---

(८) चारित्र प्राभृत।

इसमें ४४ गाथाओंमें आचार्यवरने सम्यक्चारित्रका कथन किया है, जो निर्वाण प्राप्तिके लिये अत्यंत आवश्यक है। सम्यग्दृष्टि सद्विवेकको प्राप्त होकर पापकर्मके कारणोंसे बचता है। क्योंकि सम्यग्दृष्टि वस्तुस्थितिको भलेप्रकार जानता है, इसलिये वह सच्चारित्रके पालन करनेमें सदा सावधान रहता है।

गृहस्थों और त्यागियोंकी अपेक्षासे चारित्र दो प्रकार हैं—गृहस्थोंको ग्यारह प्रतिमाओं (श्रेणियों) का और पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत पालन करनेका आचार्यने उपदेश दिया है। मुनियोंका आचार पांच महाव्रत, पांच समिति और तीन गुप्तिका पूर्णतः पालन करना अनिवार्य बताया है। इसीसे मुनिजनको जीवाजीवका प्रबोध प्राप्त होता है और वे रागद्वेष भावोंसे विरक्त होकर मोक्षमार्गपर गमन करते हैं।

---

(१) सूत्र प्राभृत

२७ गाथाओं द्वारा आचार्यने कहा है कि सूत्रोंका विषय स्वयं श्री जिनेन्द्र विहित है। गणधरोंने उसे सिद्धांतका रूप दिया। गुरुसे शिष्यको और इसी परम्परासे आचार्यवरको भी इस विषयका ज्ञान प्राप्त हुआ है। जिसप्रकार सुई सूत्र (तागा) सहित खोई नहीं जाती इसी भांति मनुष्य भी सूत्र (शास्त्रज्ञान) सहित होकर संसारमें नहीं खोया जासकता अर्थात् पथभ्रष्ट नहीं होसकता।

सूत्रज्ञानी सम्यग्दृष्टिको ही हेयोपादेयका ज्ञान होता है, अंततः वह कर्मोंका नाश करके अविनाशी सुखको प्राप्त कर लेता है।

आत्मिक ज्ञान और स्वसंवेदन विना मनुष्य आजन्म पाप कमाता है। वस्त्र रहित और पाणिपात्र मुनि ही मोक्षलाभका अधिकारी है। वही मुनि वंदनीय है जो आत्मध्यानी, पापक्रिया रहित, परिषहजित, और कर्मोंका नाश करनेको समर्थ है। अन्य मुनि चाहे दर्शन ज्ञान युक्त भी हो, वस्त्र धारण मात्रसे इच्छा रहित नहीं होता। नाम मात्रको भी परिग्रह रखना मुनिके लिये दोष है। दिनमें एकवार पाणिपात्रमें भोजन करना, यथाजात अवस्थामें रहना, कोई वस्तु ग्रहण न करना, स्वयं तिलतुप मात्र भी न लेना, वास्तविक मुनिधर्म है। यह निर्ग्रंथ अवस्था ही सर्वोच्च है।

स्त्री सर्वस्व त्याग करनेपर भी नग्न रहनेके योग्य नहीं, साड़ी मात्र तो वस्त्र ग्रहण करना उसके लिये अनिवार्य है। तथा उसकी योनि छाती और बगलमें सूक्ष्म जीवोंकी निरंतर उत्पत्ति होती है, उसे मासिक धर्म होता है, उसका मन चंचल और अशुद्ध रहना

प्राकृतिक है, अतः वह स्थिरतापूर्वक ध्यान नहीं कर सकती। यही कारण है कि वह उस पर्यायसे मोक्ष पानेकी अधिकारिणी नहीं।

मुनियों और त्यागियोंको स्वाद रहित होकर स्वल्प भोजन लेना चाहिये। किसी प्रकारकी हृदयमें इच्छा नहीं रखना चाहिये, क्योंकि इच्छाओंका सद्भाव समस्त क्लेशोंका बीज, और इच्छाओंका निरोध ही वास्तविक तपका मूल है।

---

(१०) बोध प्राभृत।

इसमें ६२ गाथाओं द्वारा आयतन[1], चैत्यगृह[2], जिनप्रतिमा[3], दर्शन[4], [5]वीतराग मय जिनबिम्ब, जिनमुद्रा[6], आत्मार्थज्ञान[7], अर्हंतदेव[8], [9]तीर्थ, [10]अर्हंतस्वरूप और प्रव्रज्याकी[11] विस्तृत व्याख्या की गई है।

जो महामुनि शुद्ध संयमी, निःकषाय, महाव्रती, सम्यक्ज्ञानी, ध्यानमग्न और आत्मविवेकी हैं वह आयतन हैं।

वह शरीर जिसमें ऐसा शुद्ध आत्मा रहता है या समवशरण, जहां ऐसा महान् आत्मा औदारिक शरीर सहित साक्षात् बिराजमान हो, अथवा मंदिर जहां ऐसे शरीरधारी आत्माका प्रतिबिम्ब स्थापित हो वह चैत्यगृह कहलाता है। जो तीर्थंकरदेव सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्ररूप रत्नत्रयसे युक्त हैं, जिनके अनंतदर्शन, ज्ञान, वीर्य, सुखरूप अनंत चतुष्टय विद्यमान हैं, जो संसार परिभ्रमणसे छूट चुके हैं और अविनाशी आनंदस्वरूप हैं, चरम शरीरसे किंचित् न्यून आकारको धरे मुक्त स्थानमें स्थित हैं वे जिन हैं और उनकी निर्ग्रंथ (वस्त्राभूषण

रहित) नासादृष्टि सहित ध्यानस्थ वीतरागमय अवस्थाकी प्रबोधक प्रतिमा ही जिन प्रतिमा है ।

जो आगम निर्ग्रंथ, ज्ञानमय, मोक्षमार्ग, सम्यग्दर्शन, सत्संयम, और आत्मगुणोंका परिचायक है वह दर्शन है । फूलमें सुगंधि तथा दुग्धमें घृतकी भांति ऐसे दर्शनके साथ सम्यग्ज्ञान तन्मय होता है । जो सूत्र ज्ञानसे युक्त, संयमसे शुद्ध, अतिशय वीतरागभावी आचार्य कर्मोंको क्षय करनेवाली दीक्षा और शिक्षा देते हैं वह जिनेन्द्र भगवानकी साक्षात् प्रतिबिम्ब है ।

ऐसे दृढ़ संयमी आचार्य इन्द्रियमुद्रा, कषायमुद्रा और ज्ञानमुद्रासे युक्त होकर जिनमुद्राको धारण कर लेते हैं अर्थात् इन्द्रियों और मनको वशमें करके छहों कायकी रक्षा करना इन्द्रिय संयम या इन्द्रिय मुद्रा है । इन्द्रिय मुद्राधारीकी विषयकषायमें प्रवृत्ति न होनेको कषाय मुद्रा कहते हैं और निकषाय संयमी मुनिकी अपने ज्ञानस्वरूपमें तल्लीनता ज्ञानमुद्रा है । अतः इन तीनों मुद्राओंसे युक्त आचार्यको साक्षात् जिनमुद्रा कहा है ।

जैसे कोई वधिक बिना बाणके धनुषसे लक्ष्य (निशाने) को वेध नही सकता इसी प्रकार ज्ञान बिना चारित्रके अभ्याससे कोई मुनि आत्मलक्ष्य (मोक्ष) को नहीं पासकता । अतः वास्तविक ज्ञान वही है जिसके सद्भावसे मोक्षकी प्राप्ति होसकती है । और जब मोक्षावस्था जीवात्माका स्वभाव है तो ज्ञान भी आत्माका स्वाभाविक गुण है । इस ज्ञान गुणके पूर्ण विकाससे ही आत्माके अर्थकी सिद्धि होती है । अतः आत्मीक ज्ञान ही आत्मार्थ ज्ञान है ।

जो पुनीत आत्मा संपूर्ण ज्ञानके विकाससे मोक्षके सन्निकट हो जाता है या मोक्ष प्राप्त कर लेता है वही विश्ववंद्य अर्हंतदेव है।

दयामय शुद्ध धर्म, सम्यक्त्व, व्रत, संयम और ज्ञान यही पांच सच्चे तीर्थ हैं। कर्ममलसे आत्माको स्वच्छ करनेके लिये इन्हीं पांच तीर्थोंमें रत होना कार्यकारी और श्रेयस्कर है।

जन्म, मरण और इसके कारणभूत कर्मोंसे रहित, शारीरिक दुःखों और दोषोंसे वर्जित अनंत अतिशय युक्त अर्हंतस्वरूप है, जो गुणस्थान, मार्गणा, पर्याप्ति, प्राण, जीवस्थानसे जाना जाता है। जब कोई त्यागप्रिय व्यक्ति समस्त गृह, ग्राम, धन, धान्य, रूपा, सोना, शय्या, आसन, छत्र, चमर आदिको बाह्यरूपसे और इनके प्रति ममत्व भावको अन्तरङ्गसे परित्याग कर यथाजात नग्नावस्था ग्रहण कर लेता है, बाईस परीषहोंकी दृढ़ता एवं निर्विषादपूर्वक सहन करता है, किसी प्रकारके कषाय भावोंसे लिप्त नहीं होता, कोई पापारम्भ नहीं करता, शत्रु मित्र, कांच कंचन, वन प्रासाद, निंदा प्रशंसा, सुख दुःख, हानि लाभ आदिमें समभाव रखता है। शस्त्रायुध, पशु स्त्री आदिसे रहित होकर गुफा, उद्यान, खण्डहर खकोडरमें या गिरि शिखरपर ध्यान-मग्न रहता है, हितमित वचन कहता है, चार हाथ भूमि आगेको देखकर धीरे २ चलता है उसका इस अवस्थाको ग्रहण करना प्रव्रज्या (जिनदीक्षा) है।

---

(११) भाव प्राभृत ।

इस रचनाका विषय भाव विशुद्धि है, जिसका निरूपण आचार्य-वरने १६३ गाथाओंमें किया है ।

शुभ अशुभ और शुद्ध तीन प्रकारके भाव होते हैं । मुनियोंके लिये विना भाव लिंगके द्रव्य लिंग कार्यकारी नहीं । मनकी शुद्धि, अशुद्धिसे ही वह पुण्यात्मा या पापात्मा होता है ।

भावलिंगी मुनि अपने शरीरसे भी मोह नहीं रखता, विषय कषायसे रहित होता है आत्मध्यायमें लीन रहता है, नग्नमुद्राधारी होता है । अपने अभ्यंतरको शुद्ध किये विना नग्नवेश बिल्कुल व्यर्थ है, भावशुद्धि न होने अथवा अशुद्ध परिणामी होनेसे ही यह जीवात्मा अनादिकालसे संसारमें भ्रमण कर रहा है, जिससे शारीरिक और मानसिक दुःख पाता है । भावोंकी विशुद्धता ही मोक्षका कारण है । पुण्यक्रिया, धर्माचरण, व्रत, शास्त्र स्वाध्याय और तत्वज्ञान शुद्ध परिणामोंके अभावमें बिल्कुल निरर्थक हैं ।

आत्माके चैतन्य स्वभाव और ज्ञानमय स्वरूपका निरन्तर ध्यान करना योग्य है । आत्मा इन्द्रियोंके विषयोंसे नितांत अलग है । विशुद्ध भावोंसे व्रत तपादि द्वारा जब संसारके बीच कर्मोंको भस्म कर दिया जाता है तब आत्मा जन्म मरणसे छूट जाता है । कर्म रहित होकर आत्मा सर्वोच्च अवस्था प्राप्त कर लेता है तभी उसे शिव, परमेष्ठि, सर्वज्ञ, विष्णु, चतुर्मुखी (ब्रह्मा) और बुद्ध आदि कहते हैं ।

विषय कषाय आदि कुभावोंको त्यागनेसे रत्नत्रयकी और रत्नत्रयके सद्भावसे अमरपदकी प्राप्ति होती है । १२ प्रकार तप, १३

क्रियाओंमें आसक्ति, दोषरहित प्रव्रज्या, द्विविध संयम, भूमिशयन, वस्त्रत्याग, परिषह सहन, जिनागमाध्ययन द्वादशानुप्रेक्षा चिंतन, सप्त तत्वों एवं नव पदार्थोंका ज्ञान, विभिन्न गुणस्थानोंमें जीव स्थिति, नव विध ब्रह्मचर्यका पालन, अभ्यंतर भावशुद्धि, यथाजात द्रव्यलिंगकी धारणा, मूल और उत्तर गुणोंमें सावधानी यह सब अंतरङ्ग शुद्धिके कारण हैं ।

---

(१२) मोक्ष प्राभृत ।

आचार्यवरने १०६ गाथाओंमें मोक्ष प्राप्त सिद्ध आत्माका वर्णन किया है । भावोंकी अपेक्षा आत्मा तीन प्रकार है । अर्थात् जो इन्द्रियजनित व्यवहारमें आत्मबुद्धि रखता है वह बहिरात्मा है । जिसे आत्म और अनात्म पदार्थोंका विवेक है वह अन्तरात्मा है और जिसने कर्मोंका नाश करके अंतिम ध्येय प्राप्त कर लिया है वह परमात्मा है ।

अतः भव्य प्राणियोंका कर्तव्य है कि बहिरात्मभावको छोड़कर अन्तरात्मभावको ग्रहण करे, जो परम्परासे परमात्मपदका साधन है । अज्ञानतावश ही शरीरके साथ आत्मबुद्धि उत्पन्न होती है। शरीर तथा संसारके अन्य समस्त पदार्थ चाहे वे सजीव हों, अजीव हों या मिश्रित हों जीवात्मासे प्रत्यक्ष ही अलग और पृथक दीखते हैं । शुद्ध स्वरूप आत्मा तो कर्ममलादिसे भी भिन्न नितांत ज्ञानमय है ।

वास्तवमें तो आत्मा और परमात्मामें केवल इतना ही अंतर है जितना खानसे निकले हुये और तपाये हुये सोनेमें होता है। संसारी

आत्मा कर्म-मलसे लिप्त होता है और परद्रव्यसे पृथक् होजानेपर वह स्वयं परमात्मा होजाता है। जिसप्रकार हरा, नीला, पीला, लाल आदि डंख लगनेसे शुद्ध श्वेत मणि भी तद्रूप भासने लगती है इसी भांति शुभाशुभ कर्मोंके संयोगसे आत्मा भी अपने शुद्ध स्वभावसे विकृत होकर अन्यरूप होजाता है। आत्मविवेकके लिये ध्यानकी आवश्यक्ता है। और ममत्वभाव आत्म विवेकका बाधक है। पर पदार्थोंसे मोह त्यागने पर ही आत्मज्ञान होता है। पंचमकालमें भी उन सम्यक्ती साधुओंको धर्मध्यान होता है जो आत्म स्वभावमें स्थित हैं। रत्नत्रयका निर्दोष पालन करनेवाले मनुष्य लौकान्तिक देव होकर अगले जन्ममें मुक्त हो सकते हैं।

जीवाजीवका विवेक ही सम्यग्ज्ञान है। वस्तु स्वरूपका जाननेवाला ही सम्यग्ज्ञानी है। अज्ञानी पुरुष अनेक भवमें उग्र तप करके जितने कर्मोंका क्षय करता है, ज्ञानी पुरुष तीन गुप्ति द्वारा उतने कर्मोंको अन्तर्मुहूर्तमें नष्ट कर देता है। अतः सम्यग्ज्ञानी ही तपस्या करके मोक्ष प्राप्त कर सकता है। तात्पर्य यह है कि परद्रव्योंका मोह बंधका, और रागद्वेषसे रहित होकर आत्मगुण चिंतनमें लीन होना मोक्षका कारण है।

(१३) लिंग प्राभृत।

२२ गाथाओंमें आचार्यवरने यह निर्दिष्ट किया है कि मुनिधर्मका पालन करनेसे ही मुनिलिंग (मुनिवेष या मुनिमुद्रा) शोभायमान है। केवल लिंग धारण करनेसे धर्मकी प्राप्ति नहीं होती।

जिन लिंग अर्थात् नग्न मुद्रा धारण कर भावलिंग (आंतरिक भावोंकी शुद्धि) की उपेक्षा या अवहेलना करनेवाले मुनि, जिनकी बुद्धि पाप कृतियोंमें मोहित है नारदवेषी हैं । मुनिका रूप ग्रहण करके नाचने, गाने, बजाने आदि क्रियायें करनेवाले, अभिमान, विवाह, कलह, द्यूत-क्रीडा, कुशीलसेवन करनेवाले, रत्नत्रय धारणकर आर्तध्यानमें रहनेवाले, तप संयम नियमादि नित्यकर्म करनेमें कष्ट या आलस्य माननेवाले, विषयभोगकी वांछा करनेवाले, प्रमाद निद्रा आदिमें रत रहनेवाले, कषायभाव रखनेवाले, अदत्त दान लेनेवाले, परनिंदा या निज प्रशंसा करनेवाले, नारीसमूहसे प्रीति माननेवाले, सज्जनोंको दोप लगानेवाले, गृहस्थोंसे अधिक ममत्व रखनेवाले, गुरुजनोंकी विनयमें शिथिल रहनेवाले, मुनिवेषको लज़ाते और साधुव्रतको कलंकित करते हैं ।

ऐसे बाह्य लिंगधारी मुनि यदि सच्चे संयमी साधुओंकी संगतिमें भी रहें, तो भी भावलिंगसे शून्य होनेके कारण वे पशु समान अज्ञानी नरक निगोदके पात्र हैं ।

तात्पर्य यह है कि नग्नमुद्रा अर्थात् मुनिवेष बाह्यरूपसे धारण करलेना कुछ कार्यकारी नहीं । भावोंमें शुद्धता और लिंगयोग (वेषोचित या वेषानुकूल) चारित्रमें स्थिरता हुये बिना जिनमुद्रा (यथाजात अवस्था) ग्रहण कर लेना आत्मवंचना और भक्त जनोंको मायाचारसे ठगना है । ऐसा स्वांगी मुनि न अपना ही आत्मकल्याण करता है न अपने वेषपूजक भक्तोंको ही सन्मार्गपर लासकता है । और वह अपने इस मायावी व्यवहारसे अंततः नरकगतिको प्राप्त होता है ।

(१४) शील प्राभृत ।

इस ४० गाथामय रचनामें आचार्यवरने यह वर्णन किया है कि यद्यपि शीलका अर्थ यथार्थ चारित्र और विशेपरूपसे ब्रह्मचर्यका पालन करना है, परन्तु ज्ञान और ब्रह्मचर्यमें कोई भेद नहीं है। विना शीलके इन्द्रियोंके विपय ज्ञान गुणका नाश करते हैं, विपय कपायसे ज्ञान अज्ञानरूप होजाता है।

जबतक जीव विपयोंके वशीभृत रहता है उसे ज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती। अतः चारित्र रहित ज्ञान, श्रद्धान रहित लिंग और संयम रहित तप निरर्थक हैं।

सुतरां चारित्र सहित ज्ञान, श्रद्धान पूर्ण लिंग और संयम मय तप ही फलदायक है।

निजपरका विवेक रखते हुये भी जो मनुष्य विपयभावमें आसक्त रहते हैं, संसार—भ्रमण करते हैं और जो विपयोंसे विरक्त होकर आत्मभावमें लीन होते हैं, वे आवागमनसे मुक्त होजाते हैं।

यदि कोई विवेकी पुरुप अपने ज्ञानका गर्व करके विपयोंमें आनंद मानता है तो वह उसके ज्ञानका नहीं उसकी बुद्धिका दोप है।

सम्यग्ज्ञान और दर्शन युक्त तपश्चरण ही सम्यक्चारित्र है। उसीसे मोक्षपदकी प्राप्ति होती है। शील और ज्ञान मंडित पुरुपकी देव भी प्रशंसा करते हैं, वह अकुलीन, कुरूप एवं वृद्ध होनेपर भी उत्तम है। उसका जीवन सफल है। जीवदया, इन्द्रियदमन, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, सन्तोप, तत्वश्रद्धान, निजपर विवेक और तपोवृत्ति यह सब शीलका परिवार है।

शील (आत्मस्वभाव) ही निर्मल तप है, तत्वज्ञानका मूल है, विषयोंका शत्रु है और मोक्षका सोपान है। विषय विष समान कहे हैं, क्योंकि विष तो एकवार ही घात करता है, किन्तु विषयोंसे हटे हुये जीव अनंतवार संसार दुःख भोगते हैं।

जैसे समुद्र रत्नोंसे भरा हुआ है. परन्तु वह जलसे ही शोभा पाता है। इसी प्रकार आत्मा अनंत गुणोंसे युक्त होते हुये भी शील पालन करनेसे ही उत्तम गतिको प्राप्त होता है।

(१५) रयणसार (रत्नसार)।

इस प्राभृतमें १६७ गाथाओं द्वारा गृहस्थ और मुनिके आचारका विस्तृत वर्णन है। आचार्यवरने बताया है कि सम्यग्दर्शन मोक्षका मूल है। सम्यग्दर्शन निश्चय और व्यवहार नयसे दो प्रकार है। सप्तव्यसन, सप्तभय और शंकादिक दोषोंसे रहित, सांसारिक अथवा शारीरिक भोगोंसे विरक्त और निःशंकित आदि अष्ट मूलगुण सहित पंच परमेष्ठिमें भक्तिभाव रखना सम्यग्दर्शन है।

जो विचारशील भव्यात्मा अपने आत्मिक शुद्ध स्वभावमें अनुरक्त और चैतन्य तथा पौद्गलिक परपदार्थोंके स्नेहरूप अशुभ परिणामोंसे विरक्त होता है; जिनेन्द्रदेव, निर्ग्रंथ गुरु और दयामय धर्ममें भक्तिपूर्वक श्रद्धा भाव रखता है; वह संसारके समस्त दुःखोंसे रहित सम्यग्दृष्टि है। दान, पूजा, ब्रह्मचर्य, उपवास, व्रत और मुनिदीक्षा सम्यग्दर्शन होनेपर ही मोक्षमार्गके कारण हैं। विना सम्यग्दर्शनके यह सब क्रियायें व्यर्थ हैं।

सुपात्रोंको दान देना, देव, शास्त्र, गुरुकी पूजा करना गृहस्थोंका मुख्य धर्म है। आत्मध्यान और शास्त्र स्वाध्याय मुनियोंके लिये अनिवार्य कर्म है।

जो गृहस्थ दानपूजा नहीं करता और न भोग ही नीतिपूर्वक भोगता है वह बहिरात्मा है। गृहस्थके धनकी शोभा दान है। जिस-प्रकार कृषक उपजाऊ खेतमें यत्नपूर्वक उत्तम बीज बोकर वांछित फल प्राप्त करता है उसी प्रकार उत्तम पात्रको विधिपूर्वक दान देनेसे सद्-गृहस्थको भी इहलोक तथा परलोक सम्बन्धी सुखकी प्राप्ति होती है।

उत्तम कुल, सुन्दर स्वरूप, शुभ लक्षण, श्रेष्ठ बुद्धि, निर्दोष शिक्षा, शुभ नाम, धन धान्य, पुत्र कलत्र, स्वजन परिवार, सुखसंपत्ति यश सन्मान, आदि समस्त भोगोपभोग वस्तुयें सम्यक्दर्शनके प्रभावसे ही प्राप्त होती हैं। जंत्र मंत्रकी सिद्धि या लोक प्रतिष्ठाके लक्ष्यसे दान पुण्य करना निरर्थक है। जो मनुष्य दान, पूजा, शील, व्रत, मूलगुण, उत्तरगुण आदि चारित्रसे विमुख है और जिसको कार्या-कार्य, हिताहित, तत्वातत्व, धर्माधर्म, पुण्य पाप, योग्यायोग्य, हेयोपा-देय, नित्यानित्य, सत्यासत्य, बंध मोक्षका विवेक नहीं है उसका उत्तमसे उत्तम ज्ञान तथा उच्चसे उच्च चारित्र भी सम्यक्रूप नहीं होता।

विषय कषाय अव्रत आदि भावोंसे अशुभ कर्मोंका बंध होता है जो दुःखदायी है। तत्वविचार, और वीतरागभाव शुभकर्मके कारण सुख देनेवाले हैं। मिथ्यात्व और मोह त्यागे विना जपतप आदि सब व्यर्थ हैं। मिथ्यादृष्टिके लिये जिनलिंग धारण करना भी निष्फल है। गुरुभक्तिके विना ज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती। आत्मज्ञान विना उत्तम

चारित्र भी अकारथ है । स्वपरका बोध प्राप्त किये विना मोक्षकी प्राप्ति भी नहीं हो सकती ।

जिनप्रणीत शास्त्रोंका मननपूर्वक अध्ययन और वस्तुस्वभावका यथोचित विचार ही सम्यक् ध्यान है । इसीसे संयमका पालन होता है। जिनागमका अभ्यास किये विना तपश्चरण करनेसे कुछ लाभ नहीं । जो मुनिदीक्षाधारी संसारी कार्योंमें अनुरक्त, विषयोंके आधीन तथा आत्मस्वभावसे अचेत रहते हैं वह मिथ्यादृष्टि हैं ।

पाणिपात्र (दोनों हाथोंकी ओक)में शुद्ध और निर्दोष आहार लेनेवाले तथा उत्तम ध्यान और चारित्रको यत्नपूर्वक पालनेवाले मुनियोंमें सम्यक्दर्शनकी विशेषतासे ही उनकी विशेषता है ।

बहिरात्मा, अंतरात्मा और परमात्माका भेद जाने विना दुर्द्धर तप करना भी क्लेशमात्र है ।

जो मनुष्य अपने शरीर सम्बन्धी चैतन्य तथा अचैतन्य पदार्थोंको आत्मरूप जानता है और राग द्वेष मोहादिक विभावोंको आत्मस्वभाव मानता है, इन्द्रियजन्य सुखोंमें सदा लीन रहता है वह बहिरात्मा है। और जो मनुष्य शरीरादि संसारी वस्तुओंको आत्मासे भिन्न मानकर उनसे मोह और ममत्व नहीं करता, न इन्द्रियजनित सुखोंकी अभिलाषा करता है, बल्कि आत्मस्वभावके अनुभवमें लीन रहकर मोक्षके अनंत और अविनाशी सुखको प्राप्त करनेकी सदा भावना रखता है वह अन्तरात्मा है ।

अतः प्रत्येक भव्यात्माका कर्तव्य है कि संसार परिभ्रमणके कारणभूत समस्त बहिरात्मभावोंका परित्याग करदे । और परम्परासे

थोक्षका कारण अन्तरात्मभावोंको धारणकर सम्यक्चारित्रका पालन करे इसीसे वह परमात्मपदको प्राप्त होकर मोक्षके अविनाशी आनन्दका लाभ कर सकता है और जन्म मरणके दुःखोंसे सदाके लिये मुक्त होजाता है।

(१६) नियमसार।

इस अध्यात्मज्ञानके ग्रन्थमें कुल १२ अधिकार और १८७ गाथायें हैं। प्रथम जीवाधिकार (१९ गाथा) में आचार्यवरने सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप रत्नत्रयको नियम कहा है जो साक्षात् मोक्षमार्ग है। यही सारपना है। अत: नियमसारका अर्थ रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग किया है।

क्षुधा, तृषा, भय, क्रोध, राग, मोह, चिंता, जरा, रोग, मृत्यु, खेद, स्वेद, मद, रति, अरति, आश्चर्य, निद्रा, जन्म, आकुलता, इन अठारह दोषोंसे रहित और केवलज्ञान आदि परम ऐश्वर्यसे युक्त परमात्मा आप्त कहलाता है। पूर्वापर विरोध रहित शुद्ध और हितमित आप्त प्रवचनको आगम कहते हैं। और आगम कथित गुणपर्याय सहित जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल यह छः द्रव्य ही तत्वार्थ हैं। ऐसे आप्त, आगम और तत्वार्थका श्रद्धान सम्यग्दर्शन है।

इन छः द्रव्योंमेंसे जीव द्रव्य चैतन्य स्वरूप है। उसके चैतन्य-गुणके साथ वर्तनेवाले परिणामको उपयोग कहते हैं जो दर्शन और ज्ञानके भेदसे दो प्रकार है। अतींद्रिय, असहाय, केवलज्ञान आत्माका स्वभाव ज्ञान है। सामान्य ज्ञान अर्थात् मति, श्रुत, अवधि और

मनःपर्यय विभाव ज्ञान है। ऐसे ही स्वभाव और विभावके भेदसे दर्शनोपयोग भी दो प्रकार है, केवल दर्शन स्वभाव दर्शनोपयोग है और चक्षु अचक्षु और अवधिदर्शन विभाव दर्शनोपयोग है।

पर्याय स्वपरापेक्ष और निरपेक्ष रूपसे दो प्रकार है। कर्मोंकी उपाधिसे रहित सिद्धावस्था स्वभाव पर्याय है और कर्मजनित नर नारक पशु और देव पर्याय विभाव पर्याय हैं। द्रव्यार्थिक नयसे जीवात्मा इन पर्यायोंसे अलग है परन्तु पर्यायार्थिक नयसे उनसे अयुक्त है।

द्वितीय अजीवाधिकार (१८ गाथा) में पुद्गल द्रव्यके अणु और स्कंध दो भेद कहे हैं। पुद्गल चाहे अणु हो या स्कंधरूप, जीवात्मासे सर्वथा भिन्न है, तद्मिश्रित आत्मा अशुद्ध, विभावयुक्त और विकृतरूप है, फिर धर्म अधर्म आकाश और कालद्रव्योंके लक्षण और भेदोपभेद वर्णन किये हैं।

तृतीय शुद्ध भावनाधिकार (१८ गाथा) में मोक्षार्थी साधुको निरंतर इस प्रकार भावना करनेका उपदेश दिया है कि वह शुद्ध स्वरूप आत्मा मानापमान, हर्ष विषाद, बंध उदय, जन्म जरा, रोग मृत्यु, शोक भय, कुल जाति, योनि शरीर, समास मार्गणा, दंड द्वंद, राग द्वेष, शल्य मूढता, विषय कषाय, काम मोह, गोत्र वेद, संस्थान संहनन आदि समस्त विकारोंसे बिल्कुल रहित है, अतः कर्मजनित गुण पर्यायोंसे भिन्न आत्मा ही उपादेय है, शेष बाह्य तत्व हेय हैं। जैसे अष्ट गुण सहित सिद्धात्मा अविनाशी, निर्मल, लोकके अग्र भागमें विराजमान है। निश्चयनयसे समस्त संसारी जीवात्मा भी वैसे ही शुद्ध स्वरूप हैं। विपरीत अभिप्रायसे रहित तत्वश्रद्धान सम्यक्-

दर्शन और संशय मोह विभ्रमसे रहित हेयोपादेयका ज्ञान सम्यक् ज्ञान है।

चतुर्थ व्यवहार चारित्राधिकार (१८ गाथा) में यह बताया है कि जीवाजीवके भेदविज्ञानका अभ्यास करनेसे वीतराग मुनि ही सम्यक्चारित्रको प्राप्त होसकता है।

पंचम प्रतिक्रमणाधिकार (१८ गाथा) में चारित्रको दृढ़ करनेके लिये निश्चय प्रतिक्रमणका वर्णन किया है। संपूर्ण वाग्विलास (वचन रचना) और रागद्वेष भावोंको त्यागकर शुद्धात्म स्वरूपका चिंतन करना, बिराधना (पाप क्रिया) को छोड़कर आराधना (आत्मध्यान) में लीन होना, उन्मार्गसे विमुख होकर जिन मार्गके सम्मुख रहना, माया मिथ्या निदान भावोंसे विरक्त होकर निश:ल्य होजाना, आर्तरौद्र ध्यानको तजकर धर्म शुक्लध्यानमें लीन होना, मिथ्यादर्शन ज्ञान चारित्रको परित्याग कर सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्रकी भावना करना प्रतिक्रमण है। अतः समस्त भावों और क्रियाओंसे विरक्त होकर आत्मध्यान ही निश्चयसे प्रतिक्रमण है, जो मोक्ष-प्राप्तिका वास्तविक साधन है।

षष्ठम निश्चय प्रत्याख्यानाधिकार (१२ गाथा) में उस व्यवहार प्रत्याख्यानका कथन नहीं है जो मुनिजन भोजनके पश्चात् आगेके लिये प्रतिदिन यथाशक्ति योग्यकाल पर्यंत आहारादिका त्याग करते हैं बल्कि इसमें निज भावोंको ग्रहण करनेके प्रयोजनसे समस्त परभावोंको परित्याग करना निश्चय प्रत्याख्यान बताया है।

सप्तम निश्चयालोचनाधिकार (६ गाथा) में समता भावमय परिणामसे आत्मस्वरूपका अवलोकन करना आलोचनाका लक्षण कहा है।

ज्ञानावर्णादि अष्ट प्रकारके द्रव्यकर्म, औदारिक, वैक्रियक, आहारक शरीर यह तीन प्रकारके नो कर्म, मति श्रुत अवधि और मनःपर्यज्ञान जो पूर्णज्ञान स्वरूप आत्माके विभाव गुण हैं, और नर नारक तिर्यंच देव चार व्यंजन पर्याय सिद्ध स्वरूप आत्माकी विभाव पर्याय हैं, इनसे रहित आत्मस्वरूपका ध्यान करना निश्चय आलोचना है ।

अष्टम निश्चय प्रायश्चित्ताधिकार (९ गाथा) में व्रत, समिति, शील और संयममें प्रवृत्त क्रोधादि विभावरूप भावोंको क्षय करनेकी भावनामें वर्तन, तथा आत्मिक गुणोंका चिंतन, अथवा आत्मप्रबोध प्राप्त करना निश्चयनयसे प्रायश्चित्त है । अतः कायादि पर द्रव्योंमें ममत्व भाव न रखकर और सफल विकल्पोंको त्यागकर आत्मध्यानमें तल्लीन होना ही सर्व दोषों और पापोंका निश्चयनयसे प्रायश्चित्त है।

नवम परमसमाधि अधिकार (१२ गाथा) में आचार्यने बताया है कि वीतरागभावसे वाचनिक क्रियाका त्याग करके आत्मचिंतन करना, संयम नियम और तपके द्वारा धर्मध्यानमें मग्न होना या पुण्य पापके कारण रागद्वेषको छोड़कर समभाव धारण करना, हास्य रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा और स्त्री पुरुष नपुंसक तीन वेद ऐसे नो-कषायोंको त्याग कर देना परमसमाधि है ।

दशम परम भक्ति अधिकार (७ गाथा) में आचार्यने यह प्रतिपादन किया है कि संसार परिभ्रमणसे मुक्तिके कारणभूत रत्नत्रयके प्रति दृढ़ भक्तिका होना ही परम भक्ति है। सिद्धात्माके गुणोंको भेदोपभेद सहित जानकर उन गुणोंमें आत्माकी गाढ़ भक्तिका होना तथा रागद्वेष विषय कषाय आदि विभावोंको छोड़कर निज भावोंमें

परिणमन करना परम भक्ति है।

एकादशम निश्चयावश्यकाधिकार (२० गाथा) में आचार्यने आवश्यकका अर्थ अवशपना या स्वाधीनता किया है। अतः कर्मरूपी परपदार्थोंके आधीन न रहकर निज गुणोंमें लीन होजाना ही स्वाधीनता है। यही वास्तविक मोक्षमार्ग है। इसी मार्गका ग्रहण करना प्रत्येक आत्माके लिये परम आवश्यक है, वीतराग योगीश्वरका पर भावोंसे अवश होना अर्थात् उनका सर्वथा नष्ट कर देना ही आवश्यक कहलाता है। शुभाशुभ भावोंसे आत्माके अतिरिक्त परपदार्थों या परभावोंके आधीन होना, छः द्रव्योंके गुण पर्यायका चिंतन, पुण्य पापरूप परिणामोंमें प्रवर्तन आदि रूप पराधीनताको त्यागकर आत्मस्वभावका ध्यान करना ही स्वाधीनता है। आवश्यक कर्म विना समस्त चारित्र भ्रष्ट और निष्फल है।

द्वादशम शुद्धोपयोगाधिकार (२८ गाथा) में आचार्यवरने यह निरूपण किया है कि जैसे सूर्यका प्रकाश और आताप एकसाथ उपस्थित होते हैं वैसे ही केवलज्ञान और केवलदर्शन युगपत प्रकाशमान होजाते हैं। अतः दर्शन और ज्ञान दोनों स्वपर प्रकाशक हैं। आत्मा स्वभावतः दर्शन ज्ञान मय है। समस्त मूर्तिक और अमूर्तिक द्रव्योंको नाना गुण पर्यायों सहित भले प्रकार जानना प्रत्यक्ष ज्ञान है। केवलीको इच्छाका अभाव होजाता है। अतः इच्छारहित देखना, जानना, बचन उचारना, तिष्ठना, विहार करना आदि कर्मबंधके कारण नहीं। केवलीके आयुकर्म पूर्ण होनेपर शेष अघातिया कर्म प्रकृतियोंका स्वयं क्षय होजाता है और आत्मा लोकशिखरके अग्र भागमें जा

विराजता है, जहां सुख दुख, पीडा, बाधा, जन्म मरण, निद्रा, तृषा, क्षुधा, द्रव्यकर्म, नोकर्म, इन्द्रिय विषय, उपसर्ग, मोह, आश्चर्य, चिंता, ध्यानादि विकार नहीं रहते। आत्मा अनंत दर्शन, अनंत ज्ञान, अनंत वीर्य, अनंत आनंदमय सच्चिदानंद स्वरूप अविनाशी और निर्विकार अवस्थामें रहता है।

इसी अवस्थाको निर्वाण कहते हैं। इसे प्राप्त करके आत्मा कृतकृत्य और सिद्ध होजाता है और अनंतचतुष्टयवान होता है। इसी अवस्था या परमपदका प्राप्त करना प्रत्येक आत्माका अंतिम ध्येय है। लक्ष्य-पदकी प्राप्तिकी निरंतर भावना और परम ध्येय सिद्धस्वरूप परमात्माके गुण चिंतनमें लय होजाना शुद्धोपयोग है, जो वास्तवमें निर्वाण या सिद्धपदकी प्राप्तिका कारण है।

इति शुभम्।

—दरखशां ।